द्रव्य गुण विज्ञानम् - in 2 pts - पूर्वार्ध & उत्तरार्ध (Part I)

compiled, edited with commentary in Hindi by वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य - alongwith a comparative study of आयुर्वेदीय and Modern द्रव्यगुणविज्ञान by Dr. बालकृष्ण शर्मा पाठक - worm eaten pinholes in both the pts damaging few letters and neatly repaired. Bombay, 1944-1947.

~~26~~ 18

Bill No. 3/07-08

133.

2008-0296 Part-I

2008-0297 Part-II

द्रव्य-गुण-विज्ञानम्।

उत्तरार्धं

प्रथमः परिभाषाखण्डः।

आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा

विरचितः।

तस्येदं द्वितीयं संस्करणं

मुम्बय्यां

सत्यभामाबाई पाण्डुरङ्ग इत्येताभिः

निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालयकृते तत्रैवाङ्कयित्वा प्रकाशितम्।

विक्रमसंवत्सर २००३। ई. सन १९४७।

निवेदन

द्रव्यगुणविज्ञानके उत्तरार्धका यह प्रथम **परिभाषाखण्ड** पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जाता है। इसको ७ अध्यायोंमें विभक्त किया है। प्रथम अध्यायमें आयुर्वेदमें प्रचलित **मानपरिभाषा** लिखी है। मानपरिभाषाके विषयमें वर्तमान समयमें उपलभ्य-मान आयुर्वेदके संहिताग्रन्थोंमें; विशेषतः उनकी टीकाओंमें अनेक पाठान्तर और विभिन्न मत पाये जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें व्यवहार भी भिन्न भिन्न पाया जाता है। बंगालके वैद्य कर्ष दो तोलेका और अन्य प्रान्तोंके वैद्य एक तोलेका लेते हैं। कई लोग सुश्रुतके मतसे कर्ष एक तोलेका और चरकके मतसे कर्ष दो तोलेका मानते हैं। वास्तवमें चरक और सुश्रुतके माशेके मानमें ही अन्तर हैं; अन्य शाणादि मान दोनोंके एक ही हैं। मैंने आयुर्वेदीय मानमें एकवाक्यता लानेका यत्न किया है और तदनुसार मूलका पाठ रक्खा है। इस अध्यायके परिशिष्ट १ में भारतवर्षमें राज्यद्वारा नियत किया हुआ मान, अंगरेजी मान, यूरोपीय मान तथा यूनानी वैद्यकका मान भी लिखा है। आयुर्वेदीय मानके प्रचारार्थ उनके बाँट और माप बनानेके विषयमें भी इस अध्यायमें लिखा है। आशा है कि हमारे व्यवसायी फार्मसीवाले इस विषयपर अवश्य ध्यान देंगे। दूसरे अध्यायमें **भेषजनिर्माणपरिभाषा** दी गई है। इस अध्यायमें आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें जिन कल्पोंका उल्लेख है तथा वर्तमान समयमें वैद्योंमें जिन कल्पोंका प्रचार है उन सबके बनानेकी विधि स्पष्ट और सरल भाषामें लिखी है। प्रत्येक कल्पके बनानेका उद्देश्य भी प्रायः लिखा है। कई कल्पोंकी निर्माणविधिके विषयमें भी व्याख्याकारोंमें मतभेद पाया जाता है। मैंने शास्त्रसंमत और अनुभवसिद्ध निर्माणविधि लिखी है। प्राचीन ग्रन्थोंमें कल्पोंकी जो मात्राएँ लिखी हैं वे प्रायः वर्तमान समयके लोगोंके बल (उपचय और शक्ति) देखते हुए अधिक है। अतः इस ग्रन्थमें वर्तमान समयके लोगोंके बलका विचार करके तदनुसार कल्पोंकी मध्यम मात्रा लिखी है। आयुर्वेदोक्त कल्पोंको यूनानी और पाश्चात्य वैद्यकमें क्या कहते हैं यह नीचे टिप्पणीमें दिया है। तीसरे अध्यायमें **अनुक्त-लेशोक्त परिभाषाएँ** दी गई हैं। इसमें अनुक्त याने ग्रन्थोंमें जिन विषयोंमें कुछ निर्देश न हो और लेशोक्त (संक्षेपोक्त) याने जिन विषयोंमें संक्षेपसे पारिभाषिक शब्दोंमें कहा गया हो, वहाँ क्या लेना चाहिये यह लिखा गया है। चौथे अध्यायमें **रसतन्त्रोक्त परिभाषाएँ** लिखी हैं। इस अध्यायमें रसतन्त्रकी वे परिभाषाएँ दी गई हैं जिनका व्यवहारमें विशेषतः उपयोग होता है। जो परिभाषाएँ विशेष उपयोगमें नहीं आतीं वे छोड़ दी गई हैं। पाँचवा अध्याय **उपकरणविज्ञानीय** है। इस अध्यायमें औषधोंके कल्प बनानेमें जिन उपकरणोंकी विशेष आवश्यकता

पड़ती हैं उनका वर्णन किया गया है । छठा अध्याय **द्रव्यसंग्रहण-संरक्षण-विज्ञानीय** है । इस अध्यायमें उद्भिज्ज द्रव्य कैसी भूमिसे, किस ऋतुमें और किस अवस्थामें लेने चाहिये और उनका संरक्षण कैसे करना चाहिये यह विषय प्राचीन और आधुनिक मतसे लिखा गया है । सातवाँ अध्याय **भेषजप्रयोगविधिविज्ञानीय** है । इस अध्यायमें औषधोंके शरीरपर प्रयोग करनेकी विभिन्न विधियोंका वर्णन किया गया है । इस प्रकार औषधोंके कल्प बनानेके विषयमें जिन विषयोंका जानना आवश्यक है वे सब विषय इस परिभाषाखण्डमें दिये गये हैं । आशा है कि इस परिभाषाखण्डके पढ़नेसे प्रत्येक वैद्य अपने औषधालयके लिये अपने घरमें आयुर्वेदीय पद्धतिसे औषधोंके सब प्रकारके कल्प सरलतासे बना सकेगा । प्रत्येक वैद्यको आयुर्वेदोक्त सब प्रकारके कल्प बनानेका शास्त्रीय और अनुभवात्मक ज्ञान होना अत्यावश्यक है । इस विषयके अध्यापकोंको औषधनिर्माणका शास्त्रीय ज्ञान देनेके साथ साथ सब प्रकारके कल्प विद्यार्थियोंके हाथसे कमसे कम ४–५ वार अवश्य बनवाने चाहिये । अपने हाथसे कईबार कल्प बनाये बिना वैद्य उसके सामने आया हुआ कल्प ठीक बना है या नहीं इसकी परीक्षा नहीं कर सकता ।

इस खण्डमें यूनानी वैद्यकके मतसे मानपरिभाषा दी गई हैं तथा आयुर्वेदोक्त कल्पोंके यूनानी नाम दिये हैं उनके लिये रायचुरी बनारसनिवासी आयुर्वेदीय-विश्वकोशके निर्माता श्रीयुत **वैद्यराज बाबू दलजीतसिंहजीने** तथा सूरत निवासी मेरे मित्र श्रीयुत **हकीम महमद कासम चिचिवाला साहबने** अपना अमूल्य समय देकर जो सहायता दी है उसके लिये मैं उनका अन्तःकरणसे आभार मानता हूं । बंबईकी भारतविख्यात झण्डूफार्मसीके संचालक श्रीयुत **वैद्यराज जुगतराम शंकरप्रसादजीने** अपना अमूल्य समय देकर इस खण्डका उपोद्घात लिखा है, इसके लिये मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूं । परिभाषा-खण्डान्तर्गत विषयोंकी वर्णानुक्रमणिका बनाने तथा प्रुफ देखने आदिमें मेरे प्रिय शिष्य **श्रीरणजितराय आयुर्वेदालङ्कारने** विशेष परिश्रम किया है अतः उनको धन्यवाद देता हूं । इस खण्डके तैयार करनेमें बना इतना यत्न किया है । तथापि भ्रम-प्रमादादिदोषोंसे अनेक त्रुटियाँ रहना संभव है । यदि विद्वान् वैद्य इन त्रुटियोंको पत्रद्वारा सूचित करेंगे तो तृतीय संस्करणमें उनको सुधार लिया जायगा ।

डॉ. विगास स्ट्रीट,
बंबई नं. २
माघ शुक्ल १५
वि. सं. २००३

निवेदक
वैद्य जादवजी त्रिकमजी आचार्य

परिभाषाखण्डका उपोद्घात।

लेखक

वैद्य जुगतराम शंकरप्रसाद

संचालक-झंडु फार्मास्युटिकल वर्क्स, बंबई.

औषधनिर्माणका इतिहास

औषधनिर्माणका आरम्भ ठेठ वैदिककालमें हुआ है। प्रागैतिहासिक कालमें जब नर और वानरमें विशेष अन्तर नहीं रहा होगा तब मनुष्य भी सीधे वनस्पतियोंसे ही पत्ते, फूल, फल आदि खाता होगा। उस कालमें औषधनिर्माण भी किसी प्रकारका नहीं रहा होगा। परंतु पीछेसे मनुष्य जब फलोंको तोड़कर और काटकर खानेके अतिरिक्त, प्रारम्भमें निसर्गमें स्वयं उत्पन्न तथा पश्चात् कृषिजात धान्योंको कच्चा परन्तु दो पत्थरोंके बीच पीसकर खाने लगे और क्वचित् अग्निमें कुछ प्राणिज तथा उद्भिज्ज द्रव्योंको भून-पका-कर खानेका प्रारम्भ हुआ, तभी संभवतः औषधनिर्माणका भी आरम्भ हुआ हो। इस संभावनाके आधारपर कहा जा सकता है कि पत्तों अथवा मूलको पीसकर उसका स्वरस निकालनेकी क्रिया औषधनिर्माणके इतिहासमें प्रथम कल्प है।

वैदिक वचनोंको देखते हुए ऊपरकी संभावनाको ऐतिहासिक माननेमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। वैदिक वाङ्मयमें नाम तो सौसे अधिक वनस्पतियोंके मिलते हैं और अपामार्ग, कुष्ठ, पीपल, गूगल, सोम आदिके रोगहर गुणोंका भी निर्देश है; परंतु इन औषधोंका व्यवहार किस रूपमें होता था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कई वनस्पतियाँ तावीजके रूपमें बाँधी जाती होंगी, कइयोंसे मार्जन किया जाता होगा, तथापि बहुतोंको लगाने या खानेके रूपमें उपयोगमें लाया जाता होगा। सोमको कूटकर उसका रस निकालनेका निर्देश वेदमें है। अस्थिसंधान करनेवाली वनस्पतिका उपयोग तो लगानेके रूपमें ही होता होगा और लगाना वनस्पतिको पीसनेसे ही संभव है। सो औषधनिर्माणका आरम्भ किसी भी वनस्पतिको कूटकर उसका रस निकालने तथा पीसकर कल्क बनानेकी क्रियासे हुआ है, यह मन्तव्य सर्वथा ग्राह्य है।

रस (या स्वरस) और कल्क इन दो कल्पोंके अतिरिक्त कोई कल्प वैदिक कालमें प्रचलित हुए हों तो उनके जाननेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। परंतु, आयुर्वेदके ग्रन्थोंको देखकर तो कहना पड़ेगा कि 'पञ्चविधकषायकल्पना' आयुर्वेदके प्राचीनतम कल्प हैं (देखिये उत्तरार्ध, प्र. खं. पृ. २३)। ऐतिहासिक दृष्ट्या कहना हो तो यह अनुमान करना होगा कि स्वरस और कल्कके रूपमें आरम्भ हुई औषध-निर्माणकल्पना, कालक्रमसे औषधद्रव्योंको सुखाकर उपयोगमें लानेका प्रचार होनेपर, पञ्चविध हो गयी। ग्रन्थकारने (पृ. २३ पर) यही बात कही है कि स्वरसादि

पञ्चकल्पनाएँ मुख्य और प्राथमिक हैं । अन्य कल्प इन्ही पाँचमेंसे किसी कल्पनाके पश्चात् होने संभव हैं ।

कल्पोंका विकासक्रम

पश्चात्कालमें, इन स्वरसादि पञ्चविध कल्पनाओंसे घृत, तैल, गुटिका, अवलेह, आसव आदि विविध कल्पोंका विकास निम्नोक्त चार उद्देश्योंकी प्रेरणासे हुआ है—

(१) औषधद्रव्यको तत्काल कूटकर निकाला हुआ रस अथवा पीसकर बनाया कल्क आठ-दस घण्टोंमें बिगड़ने लगता है, अतः प्रतिवार आवश्यकता होनेपर नया रस निकालना पड़े अथवा नया कल्क पीसना पड़े यह स्वाभाविक था । क्वाथ, हिम तथा फाण्टके विषयमें यही बात है । परंतु वैद्यकका व्यवहार ठीक ठीक संकुल होनेके पश्चात् इस बातको लक्ष्यमें रखकर कि कल्प ऐसा होना चाहिए जो चिरकालतक टिक सके, जिससे आतुर और वैद्य दोनोंको सुभीता हो, प्रथम तो औषधको सुखाकर चूर्ण करनेकी योजना हुई । चूर्णका कल्कमें ही अन्तर्भाव भी इस संभावनामूलक तर्कका समर्थन करता है । पीछे तो चिरकालस्थायी कल्पकी शोधमें लगा हुआ वैद्योंका चित्त घृत, तैल और आसवोंतक पहुँच गया । यह चिरस्थायिता गुण आज भी औषध-निर्माणशास्त्रका एक प्रवर्तक हेतु है ।

(२) आतुर औषधद्रव्यको सुगमतासे ले सके, लेनेमें कष्ट न हो तथा अरुचिकर न हो इस उद्देश्यसे भी इस शास्त्रका बड़ा विकास हुआ है । गोली आदिका खाना सुकर होता है; तो [illegible] अवलेहोंके सेवनमें अरुचि नहीं होती । कइयोंमें तो औषधीय गुणकी अपेक्षया स्वादुता ही अधिक होती है ।

(३) औषधमें स्थित इष्ट गुण कल्पमें अधिकाधिक आ सके इस हेतुसे भी अनेक कल्पोंका आविष्कार हुआ है । प्राचीनोंको इस वस्तुका ख्याल न था, यह तो नहीं कह सकते । रसक्रिया और [illegible] निर्माणमें तो इस प्रयोजनका स्पष्ट निर्देश भी है । परन्तु वर्तमान युगमें पाश्चात्य कल्पोंमें इस प्रयोजनपर बहुत ध्यान दिया गया है ।

(४) कल्प ऐसा होना चाहिए कि शरीरमें जाकर शीघ्र पच जाय । उसके अन्दर स्थित औषधीय [illegible] शरीरमें अति अल्पकालमें मिल जाय और अभीष्ट फल देने लगे, इस हेतुसे भी अनेक कल्पोंकी रचना हुई है । आसवों और भस्मोंकी रचनामें यह विचार भी अन्तर्हित है । आधुनिक इंजेक्शन तो इस बातके प्रथम श्रेणीके उदाहरण हैं । बाह्य प्रयोगमें उपयोगी घृत, तैल तथा मलहर (मरहम), आदिकालमें पत्तों अथवा उनके चूर्णको जलके साथ पीसकर बनाये जानेवाले लेपोंके विकासके दृष्टान्त हैं ।

औषधकल्प योनिभेदसे मुख्यतः तीन प्रकारके हैं—१ वनस्पतिजन्य, २ खनिज, ३ प्राणिजन्य । तीनों भेदोंका व्यवहार चिरकालसे चला आया है (इस पुस्तकमें प्राणिजन्य कल्पोंके संबन्धमें विशेष उल्लेख नहीं हुआ है) । औषधद्रव्योंकी संख्या निःसंदेह बढ़ती जा रही है; परंतु उक्त तीनों योनियोंके द्रव्य अब भी कल्पोंके निर्माणमें प्रयुक्त होते हैं । इन तीनों भेदोंके अतिरिक्त हालमें ऍलोपॅथीमें कोयला-

तत्त्वके यौगिकों(Carbon Compounds)का बड़ी संख्यामें समावेश हुआ है। आयुर्वेदमें यह प्रकार नहीं है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न वनस्पतियोंमें जो एक या अनेक गुणकारी तत्त्व होते हैं, जिन्हें ॲल्कलॉइड (Alkoloid) कहते हैं, इन तत्त्वोंको रसशास्त्र(Chemistry)की सहायतासे वनस्पतिसे पृथक् कर, उसका व्यवहार करनेकी पद्धति भी ऍलोपॅथीमें कुछ कालसे चालू हुई है। मूलद्रव्योंकी अपेक्षया इन तत्त्वोंकी मात्रा अतिस्वल्प होती है तथा फल अधिक निश्चित होता है; जैसे—अफीम या कुचलेकी तुलनामें उनके गुणकारी तत्त्व **मोर्फिआ** या **स्ट्रिक्नीनका**।

इसी खण्डमें आयुर्वेदिक कल्पोंके ऍलोपॅथिक तथा यूनानी नाम नीचे टिप्पणीमें दिये गये हैं। इनको देखनेसे स्पष्ट होगा कि इसमेंके कई कल्पोंके समान कल्प ऍलोपॅथीमें नहीं हैं; जैसे—घृत-तैल-कल्क आदि। पर, ऍलोपॅथीमें आयुर्वेदोक्त कल्पोंके अतिरिक्त ऐसिड (अम्ल), कोलोडिअन, एलीक्सीर, इमल्शन्स, ग्लिसरीना, इंजेक्शन्स, लेमिलि, लिनिमेंट, लिंकर, लोशन्स, म्युसिलेज, स्पिरिट्स्, टिंक्चर्स, टॅब्लेट्स आदि अनेक नूतन कल्पोंका प्रचार हुआ है तथा पुरानोंके भी पुष्कल प्रभेद हुए हैं।

इधर आयुर्वैदिक औषधविक्रेताओंने भी टिकियाँ (टॅब्लेट्स), स्थायी काढ़े आदि कल्प प्रस्तुत किए हैं। इनमें टिकी तो गोलीका ही भेद है। स्थायी काढ़ोंकी निर्माण-विधि यह है कि—जिसका काढ़ा बनाना हो, उसका क्वाथ बनाकर उसमें चीनी—शक्कर डाल आसवके समान रख देते हैं। कुछ काल पीछे नीचे गाद बैठ जाती है। इस गादके ऊपरका द्रव निथार, शीशीमें भरकर **स्थायी काढ़ेके** नामसे बेचते हैं। दूसरी विधि यह है कि—जिसका स्थायी काढ़ा करना हो उसका क्वाथ करके, छानकर, क्वाथको पुनः भाफपर रखकर मूलद्रव्यसे आधा भार रहे तबतक घन करते हैं। पीछे जितना द्रव हो उतना ग्लिसरीन मिलाते हैं।

आयुर्वेदिक और आधुनिक कल्पोंके विषयमें कुछ तुलनात्मक विचार

अब विभिन्न कल्पोंके विषयमें मुझे जो थोड़ा कहने योग्य लगता है, सो कहता हूँ। शेष शास्त्रोक्त विषय तो मूलमें संपूर्ण आ ही गया है।—

चूर्ण—द्रव्यको स्वच्छ करके कूटकर या पीसकर चूर्ण किया जाता है, यह तो कहनेकी विशेष आवश्यकता नहीं। पर यह कल्प ऐसा नहीं जो देरतक टिक सके। अतः आजकल ऍलोपॅथीमें चूर्णोंका विशेष व्यवहार नहीं होता।

गोली (पिल्स–टॅब्लेट्स)–गोलियोंके निर्माणमें तीन हेतु मुख्यतः प्रतीत होते हैं—१ मात्राका नियमन, २ रोगीको सेवनमें सुभीता, ३ चूर्णसे अधिक काल स्थिरता। गोली बनानेमें मूल गुणकारी द्रव्योंके अतिरिक्त उन द्रव्योंको गोलीके रूपमें बाँध रखनेवाली वस्तु डालकर गोली बनाई जाती है। कई द्रव्य तो ऐसे होते हैं कि केवल पानीसे उनकी गोली बन सकती है पर इसके सिवाय शहद, गुड़, चीनी, गूगल, गोंद आदिमेंसे जो योग्य हो वह मिलाकर गोली बनाई जाती है। पर इस विषयमें यह

खास ध्यानमें रखना चाहिए कि गोली या टिकिया बाँधनेके लिए चिकनी वस्तु ऐसी पसन्द करनी चाहिए कि गोली पेटमें जाकर तुरत गल जाय, नहीं तो संभव है कि यह पचे विना कोई भी प्रभाव दिखाये विना ही मलके साथ बाहर निकल जाय। ऍलोपॅथिक गोलियों और टिकियोंके निर्माणमें इस बातपर खास ध्यान दिया गया है।

आसव-अरिष्ट—औषधका गुण चिरकालतक स्थिर रहे इस निमित्तसे इस कल्पकी उत्पत्ति हुई है। इस कल्पनाको सविस्तर देखें तो इसमें आसव-अरिष्टके द्रव्योंका क्वाथ कर, छानकर इस द्रवमें मधुर द्रव्य डाल उसे रख छोड़नेसे उसमें खमीर उठकर ॲल्कोहल उत्पन्न होता है। यह ॲल्कोहल द्रवको बिगड़ने नहीं देता। आसव-अरिष्टमें साधारणतया ॲल्कोहल दस प्रतिशतसे अधिक नहीं होता। डाक्टरी टिंक्चर आदिकी निर्माणपद्धति आयुर्वेदिक आसव-अरिष्टकी पद्धतिसे भिन्न है। ऍलोपॅथिक पद्धतिमें पहिले मधुर द्रव्यमें संधान उत्पन्न करके इस द्रवमेंसे अर्क निकालनेकी विधिसे ९० प्रतिशततकका ॲल्कोहल पृथक् किया जाता है। इस ॲल्कोहलमें औषधीय द्रव्यको भिगोने रख दिया जाता है। गुणकारी तत्त्व संपूर्णतया खिंच आनेपर छान लेनेपर जो द्रव प्राप्त होता है, उसे **टिंक्चर** कहते हैं। ये टिंक्चर बनानेमें सामान्यतः एक पाउंड द्रव्य ॲल्कोहलमें भिगोकर पाँच पाउण्ड टिंक्चर तैयार करते हैं। कभी-कभी १ और ४ का या १ और १० का भी अनुपात रखते हैं।

टिंक्चर और वाइनमें यही भेद है कि वाइनमें औषधका प्रमाण बहुत कम होता है, अर्थात् १ और ३० से २०० तकका अनुपात होता है। निर्माणविधि टिंक्चरके समान ही है।

आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे आयुर्वेदीय आसव-अरिष्टोंमें औषधीय तत्त्व पूर्णतया नहीं आता। हाँ, जितना आता है, वह चिरकालतक टिका रहता है। कारण, आसव-अरिष्ट बनाते हुए प्रारम्भमें जो क्वाथ किया जाता है उसमें द्रव्यके समस्त गुणकारी तत्त्व घुलते नहीं; द्रवांश लेलेनेके पश्चात् जो छूछा फेंक दिया जाता है, उसमें कुछ गुणकारी तत्त्व चला जाता है। इसके सिवाय जब संधान होता है, तो संधानक्रियामें भी कुछ गुण नष्ट होता है। परंतु टिंक्चरमें सब गुणकारी तत्त्व ॲल्कोहलमें आ जाते हैं, और औषधकेमें कुछ रहता नहीं। दूसरा लाभ यह कि कल्प चाहे उतनी शक्तिवाला बनाया जा सकता है। उधर, पानीमें गुणकारी तत्त्वोंको घोलनेकी शक्ति अल्प होनेसे उसे बहुत तेज (स्ट्राँग) नहीं बना सकते।

टिंक्चर दो प्रकारसे बनते हैं—१ औषधद्रव्योंको जवकूट करके उन्हें छगुने ॲल्कोहलमें सात दिन भिगोने रखकर पीछे छान लिया जाता है। इस क्रियाको **'मेसरेशन'** कहते हैं। २ औषधद्रव्योंको थोड़ा भिगोकर शङ्कुके आकारके एक लम्बे पात्रमें भरकर पात्रके सँकरे सिरेपर एक कॉर्क लगा उसमेंसे ॲल्कोहल धीमे-धीमे टपकने देते हैं। जैसे-जैसे ॲल्कोहल टपकता जाय वैसे-वैसे ऊपरसे नया डालते जाते हैं। ऐसा करते-करते जब नीचेसे निकलते द्रवमें औषधका स्वाद आना बन्द हो जाय तो यह क्रिया समाप्त करके नीचेके द्रवको छान लेते हैं। इसे **'परकोलेशन'** कहते हैं।

रसक्रिया-एक्स्ट्रेक्ट—आयुर्वेदिक रसक्रिया और ऍलोपॅथिक एक्स्ट्रेक्टमें भी उक्त प्रकारका ही भेद है। आयुर्वेद द्रव्यको जलमें उबाल, छानकर उसे घन बनाता है। परंतु ऍलोपॅथीमें थोड़े एक्स्ट्रेक्ट आयुर्वेदिक पद्धतिसे बनाते हैं और अधिकांशमें द्रव्य अॅल्कोहलमें भिगोकर, टिंक्चरके प्रकरणमें कही किसी भी विधिसे गुणकारी तत्त्व उसमें गला करके द्रवको घन करते हैं। द्रव एक्स्ट्रेक्टमें पुनः अॅल्कोहल डाला जाता है। घन एक्स्ट्रेक्ट प्रायः ४ से ६ गुणे द्रव्यसे १ भाग बनता है और द्रव १ भागसे १ भाग ही बनता है।

अवलेह-कन्फेक्शन—औषधमें मधुर द्रव्य मिलाकर जो लेह्य कल्प बनाया जाता है, उसे वैद्यकमें अवलेह तथा ऍलोपॅथीमें **कन्फेक्शन** कहते हैं। आयुर्वेदमें द्रव्यके छाने हुए क्वाथको घन करके उसमें शक्कर या गुड़ मिलाकर अवलेह बनाते हैं, अथवा आमले जैसे द्रव्यको पकाकर उसके मावेमें मधुर द्रव्य डालकर अवलेह बनाते हैं। अवलेह पर्याप्त समय रह सकते हैं। ऍलोपॅथीमें द्रव्यके साथ मधुर द्रव्यको घोटकर गुलकन्द जैसा बनाया जाता है। ऍलोपॅथीमें ऐसे कल्पोंकी संख्या बहुत कम है।

खनिजोंके भस्म आदि कल्प—खनिजोंसे आयुर्वेदमें जो भस्मकल्प बनाये जाते हैं उन्हें आधुनिक दृष्टिसे समझनेके लिए रसशास्त्र(Chemistry)का ज्ञान आवश्यक है। इस लेखमें इस शास्त्रका विस्तारसे कथन अशक्य है, तथापि संक्षेपमें और यथाशक्य स्पष्टतासे अपने विचार प्रकट करता हूँ—

आधुनिक विज्ञान खनिज द्रव्योंके दो भेद करता है—एक भेदको धातु (Metal) कहते हैं, और दूसरेको अधातु (Non-metal)। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि धातुशब्दका यह प्रयोग उस अर्थमें नहीं जिस अर्थमें आयुर्वेदमें होता है। धातुद्रव्य ऑक्सिजनसे मिलनेपर ऑक्साइड बनते हैं। उसमें जल मिलानेसे जो द्रव्य बनते हैं वे अम्लविरुद्ध होते हैं। इसके विपरीत अधातु द्रव्य ऑक्सिजनसे मिलनेपर जो द्रव्य (ऑक्साइड) बनते हैं उनमें जल मिलने पर जो द्रव्य बनते हैं वे अम्ल (Acid) होते हैं। अम्ल और अम्लविरुद्ध द्रव्य मिलनेसे जो द्रव्य बनते हैं, उन्हें क्षार (Salt) कहते हैं।

आयुर्वेदीय भस्मोंकी इस रीतिसे परीक्षा करनेसे कई तो क्षाररूप होंगी और कई अम्लविरुद्ध ऑक्साइड होंगी।

पुनश्च, आयुर्वेदोक्त क्षारोंकी उत्पत्ति तीक्ष्ण अम्लविरुद्ध ऑक्साइडके साथ कम शक्तिवाले अम्लके संयोगसे होती है। अतः, इनमें अम्लविरुद्ध गुण पाया जाता है, तथापि ये क्षार हैं—जैसे जवाखार, सज्जीखार आदि। फिटकरी, नीला थोथा, कासीस, टंकण, नौशादर सब क्षार ही हैं।

शङ्खद्राव (तेजाब)-अम्ल द्रव्य है। इस वर्गका यह एक ही कल्प प्राचीन आयुर्वेदमें है।

इस प्रकार आयुर्वेदीय कल्पोंसे अंशतः मिलते-जुलते कल्पोंके विषयमें जो कहना योग्य लगा, वह कह कर मैं अपना लेख समाप्त करता हूँ।

परिभाषाखण्डान्तर्गतविषयाणां वर्णानुक्रमणिका।

द्रव्य-गुण-विज्ञानम् ।

उत्तरार्धं ।

परिभाषाखण्डः प्रथमः ।

मानपरिभाषाविज्ञानीयाध्यायः प्रथमः ।

अथातो मानपरिभाषाविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोचुरात्रेय-धन्वतरिप्रभृतयः ॥ १ ॥

परिभाषालक्षणम्—

अव्यक्तानुक्त-लेशोक्त-संदिग्धार्थप्रकाशिकाः ।
परिभाषाः प्रकथ्यन्ते दीपीभूताः सुनिश्चिताः ॥ २ ॥

शास्त्रोंमें स्पष्ट रूपसे न कहे हुए, सर्वथा न कहे हुए, संक्षेपसे कहे हुए तथा संदिग्ध विषयोंपर प्रकाश डालनेवाली शास्त्र और अनुभवसे निश्चित परिभाषाएँ कही जाती हैं ॥ २ ॥

---

१ 'मीयते अनेन' इति मानम्=जिसके द्वारा तौला या मापा जाय उसको **मान** कहते हैं, इस व्युत्पत्तिसे 'मान'शब्दसे तौल करनेके साधन राई, सरसों, चावल, जौ रत्ती आदि तौल वजनका; द्रवद्रव्यके मान बिन्दु-शाण-शुक्ति आदि मापनेके पात्रका; तथा लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई नापनेके साधन यव, अङ्गुल, वितस्ति आदि नाप(मानदण्ड)का ग्रहण होता है। इस अध्यायमें मान(तौल और माप)की परिभाषाका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका नाम **मानपरिभाषाविज्ञानीयाध्याय** रखा गया है।

संस्कृतभाषामें तुला(काँटे)से पदार्थके गौरवका जो मान किया जावे उसको **'पौतव'** मान (तौल-वजन), कुडव आदि मापसे द्रव या घन पदार्थके आयतन-परिमाण का जो मान किया जावे उसको **'द्रुवय'** मान, तथा अङ्गुल-हाथ आदिसे पदार्थकी लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाईका जो मान किया जावे उसको **'पाय्य'** मान कहते हैं। मापनेकी डोरीको **भागसूत्र** कहते हैं= "तुलायेः पौतवं मानं, द्रुवयं कुडवादिभिः । पाय्यं हस्तादिभिः" **अभिधानचिन्तामणि**, कांड ३, श्लो. ५४७। "पाय्यं हस्तादिभिर्मानं द्रुवयं कुडवादिभिः । पौतवं तुलया, तस्य सूत्रं स्याद्भागसूत्रकम् ॥" **वैजयन्ती**, सामान्यकाण्ड, गणाध्याय।

मानज्ञानप्रयोजनम्—

न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् ।
अतः प्रयोगकार्यार्थं मानमत्रोच्यते मया ॥ ३ ॥

(शा. प्र. खं., अ. १) ।

किसी भी योगमें मानके विना औषधद्रव्योंकी योजना नहीं की जा सकती है, इसलियें योग बनाते समय व्यवहारमें लानेके लिये प्रथम मान (तौल) कहा जाता है ॥ ३ ॥

सुश्रुतमतेन मानपरिभाषा—

पल-कुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः—तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः, ते षोडश सुवर्णम्; अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः, ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पल-कुडव-प्रस्था-ऽऽढक-द्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पलशतं, ताः पुनर्विंशतिर्भारः; शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्राणां तु द्विगुणमिति ॥४॥

(सु. चि. अ. ३१) ।

तत्र पल-कुडवादीनामवान्तरपरिमाणविशेषेषु मध्ये । धान्यमाषाः धान्यविशेषत्वेनाभ्युपगता माषाः । मध्यमा मध्यमप्रमाणाः; तेन नातिस्थूला नातितनवश्च ग्राह्याः । तैर्द्वादशभिरेकः सुवर्णमाषकः । सुवर्णमाषकः कर्षषट्को माष इत्यर्थः । सुवर्णं, कर्षः, इति हि पर्यायौ । ते षोडश सुवर्णमाषकाः सुवर्णं, कर्ष इत्यर्थः । एतदेव मानं प्रकारान्तरेणाप्याह—अथवा मध्यमनिष्पावा इत्यादि । निष्पावाः शिम्बीबीजानीत्यर्थः । अर्धतृतीयानीति अर्धं तृतीयं येषां तानि, सार्धद्वयमित्यर्थः । ततश्चेत्यादि । अयमर्थः—ततः कर्षाच्चतुर्गुणवर्धमानात् पलम्, एवं पलाच्चतुर्गुणवर्धमानात् कुडवः, कुडवात् प्रस्थः, प्रस्थादाढकम्, आढकाद् द्रोणः । तुला पलशतम् । ताः पुनरिति तुला इत्यर्थः । प्रसंगेन भारोऽप्यभिहितः, न पुनरत्रानेन व्यवहारो दृश्यते ॥ ४ ॥

अब पल–कुडव आदिका मान (तौल) कहा जाता है । मध्यम प्रमाणके १२ धान्यमाषों(उड़दों)का १ सुवर्णमाषक (माशा) होता है । १६ सुवर्णमाषकोंका १ सुवर्ण (कर्ष) होता है । अथवा मध्यम प्रमाणके १९ निष्पावों(सेमके बीजों)का १ धरण होता है । २॥ धरणोंका १ कर्ष होता है । इसके पीछे चौगुना–चौगुना बढ़ानेसे पल, कुडव, प्रस्थ, आढक और द्रोण होते हैं । ४०० कर्षोंकी १ तुला होती है । २० तुलाका १ भार होता है । द्रव्य यदि शुष्क हो तो उसके लिए ऊपर लिखा हुआ मान लेना चाहिए, परंतु आर्द्र (गीला–ताजा) हो तो योगमें लिखे हुए प्रमाणसे द्विगुण (दूना) लेना चाहिए ॥ ४ ॥

वक्तव्य—सुश्रुतने गुञ्जा-रत्तिका-का मान नहीं लिखा है । मध्यम प्रमाणके २ उड़दोंकी १ गुञ्जा-रत्ती होती है । इस हिसाबसे ६ रत्तीका एक सुवर्णमाषक (माशा) और ९६ रत्तीका १ कर्ष होता है, जो चरक और शार्ङ्गधरके कर्षमानके समान है। सुश्रुतने पक्षान्तरसे कर्षका मान बताते हुए १९ निष्पावों(सेमके बीजों)का धरण और २॥ धरणों(४७॥ सेमके बीजों)का १ कर्ष होता है, ऐसा लिखा है । १ निष्पाव (सेमका बीज) २ रत्तीका होता है । ४७॥ निष्पावोंको दूना करनेसे कर्षमें ९५ रत्तियाँ होती हैं । इस हिसाबमें केवल १ रत्तीका अन्तर आता है, जो नगण्यसा है ।

निर्णयसागरमुद्रित पुस्तकमें मूलमें 'आर्द्रद्रवाणां' ऐसा पाठ है, जो डल्हणकी टीकाके आधारपर दिया गया है । परंतु पादटिप्पणमें हस्तलिखित पुस्तकके आधारपर 'आर्द्राणां' यह पाठान्तर पाया जाता है । उसीके आधारपर यहाँ मूलमें 'आर्द्राणां' ऐसा पाठ देकर तदनुसार अनुवाद दिया है । द्रव पदार्थ लिखित मानसे द्विगुण लेना चाहिए ऐसा कई टीकाकारोंका मत है । उन्होंने अपने पक्षमें कई आर्ष वचन भी लिखे हैं । परंतु आर्द्र द्रव्य द्विगुण लेनेमें जैसी युक्ति बताई गयी है—"**शुष्कद्रव्येषु यन्मानमार्द्रेषु द्विगुणं हि तत् । शुष्कस्य गुरुतीक्ष्णत्वं तस्मादर्धं प्रयोजयेत् ॥**" अर्थात् योगोंमें किसी शुष्क द्रव्यका जो मान लिखा हो, यदि वह द्रव्य आर्द्रावस्थामें लिया जाय, तो लिखे हुए मानसे उसका दूना मान लेना चाहिए; क्योंकि शुष्क द्रव्य आर्द्रकी अपेक्षा गुरु और तेज होता है, अतः वह आर्द्रसे आधा लेना चाहिए; आर्द्र द्रव्य शुष्ककी अपेक्षया लघु और मृदु होता है अतः उसे शुष्ककी अपेक्षया द्विगुण लेना चाहिये; द्रव (जल आदि) द्रव्यको द्विगुण लेनेके विषयमें ऐसी कोई भी युक्ति नहीं बताई गयी । योगोंमें एक भाग द्रव लिखना और व्यवहारमें द्विगुण द्रव लेना ऐसा ग्रन्थकारोंका आशय है, यह मानना ठीक नहीं है । यदि संहिताकारोंको द्रवद्रव्य द्विगुण लेना अभीष्ट होता तो वे योगोंमें पहलेसे ही द्रवद्रव्योंका द्विगुण मान लिख देते । **रसयोगसागर** द्वितीय भागके परिशिष्टमें पृ. ६९४–६९७ पर **स्व. वा. वैद्य पं. हरिप्रपन्नजीने** द्रवद्वैगुण्यपरिभाषाका अति विस्तारसे अनेक युक्तियाँ देकर खण्डन किया है । मैंने विस्तारभयसे उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया । जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिए ।

चरक-शार्ङ्गधरादिमतेन मानपरिभाषा—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ ५ ॥
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना ध्वंसी(-वंशी) निगद्यते ।
षड्ध्वंसी(वंशी)भिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिस्तु राजिका ॥ ६ ॥
तिसृभी राजिकाभिश्च रक्तसर्षप इष्यते ।
तद्द्वयेन भवेदत्र मध्यमो गौरसर्षपः ॥ ७ ॥

अष्टौ तु सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ।
धान्यमाषो भवेदेको धान्यमाषसमो यवः ॥ ८ ॥
यवद्वयेन गुञ्जा स्याद्रक्तिका चापि सा मता ।
गुञ्जाद्वयेन निष्पावो ह्यण्डिका[1] च निगद्यते ॥ ९ ॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमसंज्ञकः[2] ।
माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याट्टङ्कश्चापि निगद्यते ॥ १० ॥
चरकेणाष्टगुञ्जाभिः स्वर्णमाषः प्रकीर्तितः ।
त्रिभिर्माषैस्तथा शाणः, शेषं मानं समं मतम् ॥ ११ ॥
शाणौ द्वौ द्रङ्क्षणं[3] कोलं गद्याणं वटकं तथा ।
विद्याद्द्वौ द्रङ्क्षणौ कर्षं सुवर्णं पिचुमेव च ॥ १२ ॥
बिडालपदकं पाणितलमक्षं च तिन्दुकम् ।
करमध्यं हंसपदं कवलग्रहमेव च ॥ १३ ॥
उदुम्बरं तथा माषषोडशीं पाणिमानिकाम् ।
स्यात् कर्षाभ्यामर्धपलं शुक्तिरष्टमिका[4] तथा ॥ १४ ॥
द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका[5] ।
बिल्वं षोडशिका[6] चाम्रं पलमेवात्र कीर्त्यते ॥ १५ ॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते ।
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवोऽर्धशरावकः ॥ १६ ॥
अष्टमानं[7] च स ज्ञेयः, कुडवाभ्यां च मानिका ।
शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ॥ १७ ॥
शरावाभ्यां भवेत् प्रस्थश्चतुष्प्रस्थैस्तथाऽऽढकम् ।
भाजनं पात्रकं चैव, कंसः प्रस्थाष्टकं तथा ॥ १८ ॥
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः ।
उन्मानश्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञकाः ॥ १९ ॥
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः ।
वाहं शूर्पद्वयं विद्याद्द्रो(द्रो)णीं भारीं तथैव च ॥ २० ॥
गोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥ २१ ॥

---

१ निष्पावस्य स्वल्पाण्डतुल्यत्वात् 'अण्डिका' इति चरककृता संज्ञा । २ हेमसंज्ञकः माषकः 'सुवर्णमाषक' इत्यर्थः । ३ 'क्षुद्रकं' इति पा० । ४ "अष्टमिका 'अष्टशाण'-संज्ञकमानविशेषः" शा. दी. । ५ "चतुर्थिकेति चतुःकर्ष इति भावः" शा. दी. । ६ "षोडशी षोडशशाणमिता" शा. दी. । ७ अष्टकर्षमितत्वात् 'अष्टमानं' इति संज्ञा ।

पलानां द्विसहस्रं तु भार एकः प्रकीर्तितः ।
तुलां पलशतं ज्ञेया सर्वत्रैष विनिश्चयः ॥ २२ ॥
शुष्कद्रव्येष्विदं मानमार्द्रस्य द्विगुणं च तत् ।
माषटङ्काक्षबिल्वानि कुडवः प्रस्थमाढकम् ॥ २३ ॥
राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणाः ।

छोटे झरोखेसे कोठरीमें आती हुई सूर्यकी किरणमें उड़ती हुई धूलके जो कण दिखाई देते हैं उन्हें **त्रसरेणु** कहते हैं। मानोंमें वह सबसे पहला मान माना जाता है। त्रसरेणुका दूसरा नाम **ध्वंसी** या **वंशी** है। ६ ध्वंसीकी १ **मरीचि** होती है। ६ मरीचिकी १ **राजिका** (राई) होती है। ३ राईका १ **रक्तसर्षप** (लाल सरसों) होता है। २ रक्तसर्षपका १ **गौरसर्षप** (पीली सरसों) होता है। ८ रक्तसर्षपका १ **तण्डुल** (लाल चावल) होता है। २ तण्डुलका १ **धान्यमाष** (उड़द) होता है। **यव** (जौ) धान्यमाषके बराबर (२ तण्डुलोंका) होता है। २ धान्यमाष या यवोंकी १ **गुञ्जा** या **रक्तिका** (रत्ती) होती है। दो गुञ्जाका १ **निष्पाव** (सेमका बीज) होता है, उसको **अण्डिका** भी कहते हैं। ६ रत्तियोंका **सुवर्णमाष** (माशा) होता है। ४ माशेका १ **शाण** होता हैं, जिसको [1]**टङ्क** भी कहते हैं। चरकमें ८ गुञ्जाका १ माशा और ३ माशेका १ शाण लिखा है। अन्य मान सुश्रुत और शार्ङ्गधरके समान ही लिखा है। २ शाणका १ **द्रङ्क्षण** होता है, जिसको **कोल**, **गद्याण** और **वटक** भी कहते हैं। २ द्रङ्क्षणका १ **कर्ष** (तोला) होता है। **सुवर्ण**, **पिचु**, **बिडालपदक**, **पाणितल**, **अक्ष**, **तिन्दुक**, **करमध्य**, **हंसपद**, **कवलग्रह**, **उदुम्बर**, **माषषोडशी** और **पाणिमानिका** ये कर्षके दूसरे नाम हैं। २ कर्षका १ **पलार्ध** (अर्धपल) होता है। पलार्धको **शुक्ति** और **अष्टमिका** भी कहते हैं। २ पलार्धका १ **पल** होता है। पलको **मुष्टि**, **चतुर्थिका**, **बिल्व**, **षोडशिका** (शाणषोडशिका) और **आम्र** भी कहते हैं। २ पलकी १ **प्रसृति** या **प्रसृत** होता है। २ प्रसृतिकी १ **अञ्जलि** होती है। **कुडव**, **अर्धशराव** और **अष्टमान** ये अञ्जलिके पर्याय नाम हैं। २ कुडवकी १ **मानिका** होती है। उसको **शराव** या **अष्टपल** भी कहते हैं। २ शरावका १ **प्रस्थ** होता है। ४ प्रस्थका १ **आढक** होता है। **भाजन** और **पात्र** ये दो आढकके पर्याय हैं। ८ प्रस्थका (२ आढकका) १ **कंस** होता है। ४ आढकका १ **द्रोण** होता है। द्रोणको **कलश**, **नल्वण**, **अर्मण**, **उन्मान**, **घट** और **राशि** भी कहते हैं। २ द्रोणोंका १ **शूर्प** होता है। इसे **कुम्भ** और **चतुःषष्टिशराव** भी कहते हैं। २ शूर्पका १ **वाह**

---

१ "शाणं पाणितलं मुष्टिं कुडवं प्रस्थमाढकम् । द्रोणं वाहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम्" (अ. हृ. क. अ. ६) ।

होती है। **गोणी** (द्रोणी) और भारी उसके दूसरे नाम हैं। ४ गोणीकी (४०९६ पलोंकी) १ **खारी** होती है । २ हजार पलोंका १ **भार** होता है । १०० पलोंकी १ **तुला** होती है। यह मान सूखे द्रव्योंके लिए है । यदि वे ही द्रव्य आर्द्र लिये जायँ तो योगमें लिखे हुए मानसे दूने लेने चाहिए। माष, शाण, कर्ष, पल, कुडव, प्रस्थ, आढक, राशि, गोणी और खारिका ये मान उत्तरोत्तर चौगुने होते हैं ॥ ५-२३॥—

वक्तव्य—सुश्रुतने मान संक्षेपमें और सरल भाषामें लिखा है। एक मानके कई पर्याय भी नहीं लिखे हैं । शाण, कोल, प्रसृत, शराव, कंस, शूर्प और खारी ये मान सुश्रुतने लिखे ही नहीं हैं। माशेका मान सुश्रुत और शार्ङ्गधर दोनोंका समान है। दोनोंके मतसे माशा ६ रत्तीका होता है और शाण ४ माशेका होता है । **चरकने** ८ रत्तीका माशा माना है, परंतु शाण ३ माशेका माना है । अतः शाण दोनोंके मतमें २४ रत्तीका होता है । सुश्रुत तथा शार्ङ्गधरने कर्ष १६ माशेका और चरकने (शाण ३ माशेका, कोल ६ माशेका और) कर्ष १२ माशेका माना है। परंतु यह भेद केवल आभासमात्र है। रत्तियोंके हिसाबसे सबका शाण २४ रत्तीका, कोल ४८ रत्तीका और कर्ष ९६ रत्तीका होता है ।[१] अर्थात् रत्तियोंके हिसाबसे सुश्रुत और शार्ङ्गधरके साथ चरकके शाण, कोल और कर्षके मानमें कुछ भी अन्तर नहीं है। कर्षके आगेके मान तीनोंमें बराबर हैं। सुश्रुतने उड़दके पहलेका मान नहीं लिखा है । उसका कारण यह हो सकता है कि सुश्रुतके योगोंमें उड़दसे नीचेके मानकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती । हाँ, हीरे प्रभृतिकी भस्म, संखिये जैसे विष या कुछ तीक्ष्ण रसयोगोंको रत्तीसे भी सूक्ष्म मात्रामें देनेकी आवश्यकता पड़ती है। उसके लिए सुगम उपाय यह है कि—उन द्रव्योंकी एक रत्ती मात्रा लेकर उसकी जितनी मात्राएँ बनानी हों उतने गुना उसमें गिलोयका सत्त्व या दुग्धशर्करा (Sugar of Milk) मिला, खूब मर्दन कर, उसकी उतनी मात्राएँ (पुड़ियाँ) बनालें । इस प्रकार भाग बना लेनेसे अभीष्ट मात्रा बना लेनेमें सुगमता होती है और औषधके गुणमें कुछ भी अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार गन्धकद्रावक (गन्धकाम्ल) जैसे तीक्ष्ण द्रवौषधोंको १०-२० गुने परिस्रुत जलमें मिला लेनेसे उसकी अभीष्ट मात्रा देनेमें सरलता होती है ।

---

१ स्वर्गवासी वैद्य पं. हरिप्रपन्नजीने रसयोगसागरके परिशिष्टमें मानपरिभाषाके विषयमें जो सविस्तर ऊहापोह किया है उसके कुछ महत्त्वके अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"सुश्रुतीय मानके साथ शार्ङ्गधरोक्त मागध मानकी तुलना की जाती है। सुश्रुतमें १२ उड़दका १ माशा माना है तथा शार्ङ्गधरमें ६ रत्तीका १ माशा माना है और कर्षको दोनोंने १६ माशेका लिखा है। वज़न करनेसे १ रत्तीके बराबर दो उड़द होते हैं। सुश्रुतके हिसाबसे एक कर्षमें १९२ उड़द होते हैं और शार्ङ्गधरमें ६ रत्तीके माशेके हिसाबसे ९६,

रत्तियाँ होती हैं । इन रत्तियोंको द्विगुण करनेसे १९२ उड़द बनते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि सुश्रुतको भी ९६ रत्तीका कर्ष और ६ रत्तीका ही माशा मान्य है, सो शार्ङ्गधरके मानके बराबर हैं । आजकल व्यवहारमें भी एक तोलेकी रत्तियें ९६ मानी जाती हैं । × × × । यदि आजकलके प्रचलित रुपयोंके साथ बराबरी करनी हो तो पञ्चम जॉर्जका जो किलिबिषरहित नया सिक्का है वह उपरिनिर्दिष्ट तोले या कर्षके बराबर वजनमें है । परंतु इससे पहलेके दो सिक्के कुछ कम हैं । इसलिए रुपयोंसे तोलनेका काम लिया जाय तो वर्तमान नये सिक्केसे लेना उचित है । पर एकान्ततः उसपर भी भरोसा न रखना । उसमें भी एक दूसरेमें टकसालकी गल्तीसे अथवा घिसनेसे अथवा तेजाबमें डालकर चांदी निकाल लेनेकी वजहसे कुछ फेर रहता है, इस बातपर ध्यान रखना । कर्षके १६ माशे माने गये हैं और आजकल तोलेके १२ माशे माने जाते हैं । इस जगह आपाततः विरोध आता है । परंतु तोलेमें माशा ८ रत्तीका माना जाता है और उपरिनिर्दिष्ट कर्षमें ६ रत्तीका माना है, इसलिये कर्षमें १६ और तोलेमें १२ माशेका आभासमात्र भेद प्रतीत होता है, वास्तविक भेद नहीं । × × × । सुश्रुतमें धरणका मान **"अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणम्, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः"** इस तरह दिया है । इस वाक्यसे कर्षका २॥ वां हिस्सा धरण होता है और उसमें १ कर्षका २॥ वां भाग ७७ उड़द अर्थात् ३८॥ रत्ती होती हैं । सुश्रुतने १९ मध्यम निष्पावोंका (सेमके बीजोंका) १ धरण कहा है । इसलिए एक निष्पाव २ रत्तीके लगभग होता है । यह प्रमाण अन्य किसी मानसे नहीं मिलता । यद्यपि [१]शार्ङ्गधरने शाणका पर्याय धरण दिया है, पर वह सुश्रुतसे विरुद्ध है । × × × । **"षड्वंशयस्तु मरीचिः स्यात् षण्मरीच्यस्तु सर्षपः । अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ॥"** चरक, और **"जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते । षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिस्तु राजिका ॥ तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः ॥"** इत्यादि शार्ङ्गधरीय पाठ आपसमें मिलते नहीं हैं । उसका कारण यह है कि सूक्ष्म वस्तुओंका विचार है वह ध्यानमें न आनेसे औपरिष्टिक अनुमान करके लोगोंने बिगाड़ा है, इसलिये परस्पर विरोध मालूम होता है । शार्ङ्गधरने कोई अपना स्वतन्त्र मत नहीं प्रदर्शित किया है किन्तु प्राचीन संहिताओंके आधार ही पर ग्रन्थ लिखा है । चरकीय पाठको न समझनेसे लोगोंने बिगाड़ा है । इसीलिये यह विरोध आकर खड़ा हुआ है । चरकीय पाठ **"जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते । षड्वंशयस्तु मरीचिः स्यात् षण्मरीच्यस्तु राजिका ॥ तिसृभी राजिकाभिश्च रक्तसर्षप इष्यते । अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ॥"** ऐसा होना उचित है । ३ राईका १ रक्तसर्षप और २ रक्तसर्षपका १ गौरसर्षप प्रत्यक्ष है । इसमें संदेहका कोई अवसर नहीं

---

[१] शार्ङ्गधरने शाण(२४ रत्ती)के पर्यायमें जो **धरण** शब्द लिखा है वह **लीलावतीके** आधारपर लिखा हो ऐसा मालूम होता है । "तुल्या यवाभ्यां कथिताऽत्र गुञ्जा, वल्लस्त्रिगुञ्जो, धरणं च तेऽष्टौ । गद्याणकस्तद्द्वयं" इत्यादि (लीलावती श्लो. ३) ।

है । ×××। "धान्यमाषद्वयं यवः" यह पाठ भी अशुद्ध है। क्योंकि धान्यमाष (उड़द) और सतुष यवका वजन एक बराबर होता है । इसीलिए चक्रपाणिदत्तने पूर्वटीकाकारोंका मत बतलाते हुए "ते तु चत्वार इति—यवचत्वारः, अन्ये तु माषाश्चत्वारः 'अण्डिका' इति वदन्ति" ऐसा लिखा है । यहाँपर गौर करके देखिये यव और धान्यमाष समप्रमाण होनेसे ही किसी टीकाकारने ४ यवकी अण्डिका बतलाई और दूसरोंने ४ धान्यमाषकी अण्डिका बतलाई है । चक्रपाणिदत्तको अशुद्ध पाठका भेद नहीं मालूम हुआ इसीलिये बेचारे गोरखधंधेमें पड़े । इसका भी कारण यह मालूम होता है कि अण्डिकापदार्थ इनको ज्ञात न हुआ । यहाँकी अण्डिका सुश्रुतीय निष्पाव है जिसे कि हिन्दीमें सेमका बीज कहते हैं । उसे समकक्ष ४ यवके साथ अथवा ४ उड़दोंके साथ तोलकर देख लीजिये बराबर होता है । इसलिए "धान्यमाषैद्वयं यवः" के स्थानमें "धान्यमाषसमो यवः" ऐसा पाठ होना उचित है ।×××। "हेमश्च धान्यकश्चोक्तो" यह भी पाठ अशुद्ध है । आचार्यने माषशब्दके दो अर्थ बतलाए हैं; अर्थात् १ सुवर्णका माषे और दूसरा अनाजका माष अर्थात् उड़द । 'धान्य'शब्दसे स्वार्थमें 'कप्' प्रत्यय करके धान्यक शब्द बनाया हुआ है अर्थात् माष अथवा माषक शब्द जहाँ आता है वहाँ सुवर्णमाष अर्थात् १६ उड़द और एक अन्नविशेष यानी १ उड़दका बोध होता है, इस भेदको बताना आचार्यका अभिप्राय है । वह अभिप्राय "हेम्नश्च धान्यकस्योक्तो" इस तरहके पाठ होनेसे व्यक्त हो सकता है । ×××। इसी तरह शार्ङ्गधरके पाठको भी सुधारना आवश्यक है । यथा—"षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिस्तु राजिका । तिसृभी राजिकाभिश्च रक्तसर्षप इष्यते ॥ तद्द्वयेन भवेदत्र मध्यमो गौरसर्षपः । यवोऽष्टसर्षपैस्तैश्च गुञ्जा स्यात्तद्वयेन च ॥ षड्भिस्तु रक्तिकाभिश्च माषको हेमसंज्ञकः ।" बस इस तरहका पाठ रखनेसे "गुञ्जा स्यात्तचतुष्टयम्" और "यवद्वयेन गुञ्जा स्यात्" इन दोनों पाठोंका परस्पर विरोध नहीं आता है । नहीं तो एक ही पुरुषके परस्पर विरुद्ध दो पाठ होनेसे मत्तप्रलाप कहा जायगा । इसी तरह "भाजनं कंसपात्रं च" इस जगह "भाजनं पात्रकं चैव" ऐसा पाठ होना चाहिये । कारण कि चरकने दो आढकका नाम कंस रखा—"कंसः प्रस्थाष्टकं तथा;" प्रस्थाष्टक यह नाम आढकका नहीं हो सकता है, वह ४ प्रस्थका होता है । इसलिए ऊपर कहा हुआ पाठ रखना उचित है । उसके आगे चरकमें "कंसश्चतुर्गुणो द्रोणः" की जगह "कंसद्विगुणितो द्रोणः" ऐसा पाठ करना । शार्ङ्गधरमें "द्व्याढके कंस आख्यातस्तथा प्रस्थाष्टकं भवेत्"

---

1 सुवर्ण तौलनेका माशा । प्राचीन समयमें सोना, चांदी और हीरेको तौलनेके लिये भिन्न भिन्न मान होते थे । इस विषयमें कौटलीय अर्थशास्त्रमें इस प्रकार लिखा है— "धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः पञ्च वा गुञ्जाः । ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा । चतुष्कर्षं पलम् । अष्टाशीतिर्गौरसर्षपा रूप्यमाषकः । ते षोडश धरणं शैम्ब्यानि वा विंशतिः । विंशतितण्डुलं वज्रधरणम् ।"

ऐसा पाठ रखनेसे मार्ग विशुद्ध हो जायगा। × × ×। ऊपर कही हुई चरकीय पाठकी अपभ्रष्टतासे बहुतसे लोगोंको यह भ्रम हो गया है कि "–सुश्रुतके कर्षसे चरकीय कर्ष दूना है। कारण कि सुश्रुत मध्यम १२ उड़दोंका १ माशा मानते हैं और ऐसे १६ माशेका १ कर्ष मानते हैं तब सुश्रुतके हिसाबसे १९२ उड़दोंका कर्ष होता है। चरकमें २ उड़दोंका १ जव, ४ जवकी १ अण्डिका और ४ अण्डिकाओंका १ माशा अर्थात् १६ जव अथवा ३२ उड़दका १ माशा होता है। ऐसे ३ माशेका १ शाण और ४ शाणका १ कर्ष होता है। इस १ कर्षके १९२ जव अथवा ३८४ उड़द होते हैं। इस तरह चरकीय कर्ष सुश्रुतीय कर्षसे ठीक द्विगुण होता है"। इस तरहका भ्रम लोगोंके मनमें ठंस गया है। इसी कारणसे "× × कालिङ्गमानं च चरकाचार्यसंमतं" इतना टुकडा डल्हणने लिख दिया है सो भूल है। इसका कारण "धान्यमाषद्वयं यवः" यह अशुद्धिमात्र है। इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं है। देखिये—सुश्रुतीय १९ अण्डिकाओं(निष्पावों)का १ धरण और २॥ धरणका १ कर्ष होता है। २॥ धरणकी ४८ अण्डिका होती हैं। उतनी ही चरकीय कर्षकी होती हैं। इनका नाम सुश्रुतने **निष्पाव** और चरकने **अण्डिका** रखा है। ये दोनों एक ही वस्तु हैं। उड़दके हिसाबसे "तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः, ते षोडश सुवर्णम्" इस तरह कर्ष बनाया है। १२ उड़दका १ माशा और १६ माशेका १ कर्ष अर्थात् १९२ उड़दका १ कर्ष है। चरकीय कर्ष भी १९२ उड़दका होता है, क्योंकि यवका वजन उड़दके बराबर होता है। इसको जो चाहे से धरमके काँटेपर रखकर देख लेवे। इसलिए "धान्यमाषद्वयं यवः" की जगह "धान्यमाषसमो यवः" ऐसा पाठ सुधार लेनेसे ४ यव अथवा उड़दकी १ अण्डिका, ४ अण्डिकाका १ माशा, ३ माशेका १ शाण और ४ शाणका १ कर्ष होता है। अर्थात् १९२ उड़द या यवका १ कर्ष हुआ। इसमें अन्तर ही क्या आया? हाँ; चरकीय १२ माशेका कर्ष है और सुश्रुतीय १६ माशेका है। यह आपाततः भेद मालूम होता है। परंतु सुश्रुतीय माषा ३ अण्डिका(१२ उड़द)का है और चरकीय ४ अण्डिका(१६ उड़द)का है। इसलिए माषोंमें अवश्य भेद है। चरकीय माशा बड़ा है और सुश्रुतीय छोटा। निष्कर्षमें सुश्रुतीय ६ रत्तीका माशा होता है और चरकीय ८ रत्तीका। इसलिए केवल माशोंमें ही भेद है, इसके सिवाय (शाण) कर्ष प्रभृतिमें कोई भेद नहीं है। यदि "**ताश्चतस्रश्च माषकः**" की जगह "**तास्तिस्रश्चैकमाषकः**" कर दिया जाय और "**भवेच्छाणस्तु ते त्रयः**"की जगह "**शाणः स्यात्तच्चतुष्टयम्**" ऐसा कर दिया जाय तो फिर माशोंमें भी फरक न आवेगा। चरकीय मूल पाठकी अशुद्धिको समझनेकी शक्ति न होनेसे चक्रपाणिदत्तने यहांपर अंड बंड लिख मारा है वह सर्वथा अनादेय है। चक्रपाणिदत्तकी तरह अष्टाङ्गसंग्रहकारने भी "**परिमाणं पुनः षड्वंशी मरीचिः, ताः षट् सर्षपः, तेऽष्टौ तण्डुलः, तौ धान्यमाषः, तौ यवः**" ऐसी अविचारसे अशुद्ध पाठकी ही व्याख्या कर दी है। इसी तरह "**तुला पुनः पलशतं, तासि विंशतिर्भारः**" यह अन्य ग्रन्थोंकी चरकके साथ खिचड़ी पका डाली है। कारण कि

आयुर्वेदोक्त मानोंको व्यवहारमें लानेके लिए उन मानोंके जंग न लगनेवाले फौलाद (Stainless Steel) के या निकल, चांदी, प्लेटीनम् जैसी जंग न लगनेवाली धातुकी गिल्ट (मुलम्मा) चढ़ाए हुए पीतलके बाँट बना लेने चाहिएँ । उनपर मानके अङ्क नागरी लिपिमें लिखे होने चाहिएँ । आयुर्वेदिक मानके प्रचारार्थ यह आवश्यक है । यह कार्य आयुर्वेदिक फार्मेसीवाले व्यवसायी आसानीसे कर सकते हैं । जबतक ऐसे बाँट बाजारमें न मिलने लगें तबतक बाँजारमें अंग्रेजी अङ्कवाले ग्रेनके बाँट मिलते हैं उनसे और भारत सरकारके चांदीके सिक्कोंसे काम चलाया जाय । ग्रेन १ यव या धान्यमाषके लगभग होता है । चांदीकी दुअन्नी सुश्रुत और शार्ङ्गधरके २ माशेके, चवन्नी १ शाणके, अठन्नी १ कोलके और रुपया १ कर्षके बराबर होता है । पीतल या लोहेके सरकारकी छाप लगे हुए ।- सेर, ।। सेर, १ सेर, २ सेर, ५ सेर, १० सेर, ।। मन और १ मनके बाँट बाजारमें बिकते हैं । ।- सेर २० तोले (१। कुडव) का, ।। सेर ४० तोले (१। शराव) का, १ सेर ८० तोले (१। प्रस्थ) का और मन ऐसे ४० सेरका होता है ।

इस भारका नाम चरकमें नहीं है किंतु सुश्रुत और कृष्णात्रेयमें है । चरकमें भारको वाह बतलाया है । उससे आधेको भारी बताई है, वह भी इस भारसे अधिक प्रमाणकी है । इस लिए यह प्रतीत होता है कि इन सबने इनका तलस्पर्श न करके एक अन्दाजसे लिख मारा है । कितने ही अज्ञ लोग सुश्रुतीय धरण मानको अन्य मत बतलाते हैं और यहांका कर्ष ८० रत्तीका है इस तरह व्याख्यान करते हैं सो अज्ञता है । यहां दो मत नहीं हैं किन्तु उसी मानको द्वितीय प्रकारसे सिद्ध किया है । इसमें अणुमात्र भी अन्तर नहीं है । जैसा ९६ रत्तीका कर्ष पहिला है वैसा ही यह है और इसीको षड्धरणादियोगमें लिखा है । × × × । जिस तरह कलिङ्गमानकी दुर्दशा हुई है उसी तरह हिन्दी गणितकी पुस्तकोंमें मानकी दुर्दशा है । यथा—८ खसखस=१ चावल, ८ चावल=१ रत्ती, ८ रत्ती=१ माशा, १२ मासे=१ तोला । इस जगह ८ खसखसका जो १ चावल लिखा है सो खबर नहीं किस महाशयने अन्दाजसे लिख डाला है । तोलमें लाल चावल लिया जाता है । इस १ चावलपर लगभग ७५ खसखस चढ़ते हैं और लिखनेवालेने ८ ही खसखस लिखे हैं । इसपर कुछ भी विचार न करके पुस्तकोंमें वैसा ही मेढ़ियाधसान चला रक्खा है । इस तरफ किसीकी भी दृष्टि नहीं गयी । सन् १९२२ में निर्णयसागरप्रेसमें लीलावतीकी सटीक पुस्तक छपी है । उसकी टीकामें भी 'तोल्यपरिमाण भारतीय' शीर्षकके नीचे ८ खसखसका १ चावल लिखा है । वजनमें तथा आकारमें किसी भी तरह १ चावलके बराबर ८ खसखस नहीं होते । इसकी तर्फ देखकर चित्त अत्यन्त खिन्न होता है । इसी तरह सब जगह तोलमें बहुत फेरफार हुआ है उसे सुधारनेकी आवश्यकता है ।" (रसयोगसागर २ खण्ड पृ. ६८४–६९१) ।

द्रवद्रव्यार्थं कुडवमानम्—

मृद्वृक्षवेणुलोहादेर्भाण्डं यच्चतुरङ्गुलम् ॥ २४ ॥
विस्तीर्णमथ चोच्चं च तन्मानं कुडवं वदेत् ॥

द्रवद्रव्यके मापनेके लिये मिट्टी, लकड़ी या लोहे आदि धातुओंका चार अंगुल चौड़ा और उतना ही ऊंचा गोल पात्र बनाया जावे, उसको कुडव कहते हैं ॥२४॥—

वक्तव्य—शार्ङ्गधर आदिने द्रवद्रव्योंके मापनेके लिये इस प्रकारका कुडवका मान बनानेको लिखा है । अंगुल ३ प्रकारका माना गया है—६ यवकी चौड़ाईका छोटा, ७ यवकी चौड़ाईका मध्यम और ८ यवकी चौड़ाईका बड़ा । एक यवकी चौड़ाई १ इंचके दशांशके बराबर होती है । यदि मध्यम प्रमाणसे ७ यवका १ अङ्गुल मानकर ४ अंगुल (२८ यव या २ इंच ८ दशांश) चौड़ा और गहरा पात्र बनाया जाय तो उसमें १६ तोला जल आसकता है । आयुर्वेदीय पद्धतिसे द्रवद्रव्य मापनेके लिये कुडवका मान बनना आवश्यक है । इसमें कर्ष, पल, प्रसृति और कुडवके स्थानमें रेखाएँ बनाकर नागरीमें अंक और मानके नाम लिखे जाने चाहिए । जबतक इस प्रकारका कुडवका मान बनकर बाजारमें न मिलने लगे तबतक सरकारी छापके पाव, आधे और एक सेरके दूधके माप मिलते हैं, उनसे काम चलाना चाहिये । ।- सेरका माप १। कुडवका, ।॥- सेरका माप १। शरावका और १ सेरका माप १। प्रस्थका होता है । शार्ङ्गधरोक्त द्रवकुडवका मान जल और जलप्रधान आसव आदिके लिये जानना चाहिये । स्थिर या उड़नेवाले तैल, मधु (शहद), विशुद्ध मद्य, द्रावकाम्ल आदिके विशिष्टगुरुत्व (आपेक्षिकभार)में अन्तर होता है, अतः उन द्रवपदार्थोंको वजन (तौल) करके लेना उचित है ।

---

१ "अष्टभिस्तु यवैर्ज्येष्ठं मध्यमं सप्तभिर्यवैः । कनिष्ठं षड्भिरुद्दिष्टमङ्गुलं मुनिसत्तम ! ॥"; मानं तु पार्श्वेन, 'षड्यवाः पार्श्वसंमिताः' इति कात्यायनदर्शनात्" शब्दार्थचिन्तामणि पृ. २५ ।

आयुर्वेद तथा डॉक्टरी और यूनानी वैद्यकमें प्रचलित मानोंका विवरण।

पौतवमान (घन–कठिन पदार्थका मान-तौल-वजन)

Measures of Weights

घन पदार्थका आयुर्वेदीय मान

सुश्रुत और शार्ङ्गधरके मतानुसार

३ राजिका (राई)	१ रक्तसर्षप (लाल सरसों)
३ रक्तसर्षप	१ गौरसर्षप (पीली सरसों)
४ गौरसर्षप	१ तण्डुल (लाल चावल)
२ तण्डुल	१ धान्यमाष (उड़द) या यव (जौ)
२ धान्यमाष या यव	१ रक्तिका (रत्ती), गुञ्जा
२ रक्तिका	१ अण्डिका-निष्पाव (सेमका बीज)
६ रक्तिका	१ सुवर्णमाषक (माशा)
४ सुवर्णमाष	१ शाण[1] (चाँदीकी चवन्नी)
२ शाण	१ कोल (चाँदीकी अठन्नी)
२ कोल	१ कर्ष (१ रुपयेभर, १ तोला)
२ कर्ष	१ शुक्ति (२ तोला)
२ शुक्ति	१ पल (४ तोला)
२ पल	१ प्रसृति (८ तोला)
२ प्रसृति (४ पल)	१ कुडव (१६ तोला)
२ कुडव	१ शराव (३२ तोला)
२ शराव (४ कुडव)	१ प्रस्थ (६४ तोला)
४ प्रस्थ	१ आढक (२५६ तोला)
२ आढक (८ प्रस्थ)	१ कंस (५१२ तोला)
४ आढक (१६ प्रस्थ)	१ द्रोण (१०२४ तोला)
२ द्रोण	१ शूर्प (२०४८ तोला)
२ शूर्प या ४ द्रोण	१ वाह–गोणी (४०९६ तोला)
४ वाह	१ खारी (१६३८४ तोला)
२००० पल	१ भार (८००० तोला)
१०० पल	१ तुला (४०० तोला)

१ शाण, कोल, कर्ष आदिके अन्य पर्याय नाम इसी खण्डमें पृ. ४–६ पर देखें।

सुश्रुतका मतान्तरसे लिखा हुआ कर्षका मान

१९ निष्पाव (सेमके बीज)	१ धरण
२॥ धरण	१ कर्ष

चरकके मतानुसार मान

४ अण्डिका (सेमके बीज–८ रत्ती)	१ सुवर्णमाष (माशा)
३ सुवर्णमाष (२४ रत्ती)	१ शाण
४ शाण	१ कर्ष (१ तोला)

चरकके अन्य मान सुश्रुत और शार्ङ्गधरके समान हैं।

भारतवर्षमें अंगरेजी राज्यद्वारा नियत किया हुआ घन पदार्थका मान

१८० ग्रेन	१ तोला (१ रुपया-चाँदीका सबसे बड़ा अंग्रेजी सिक्का)
५ तोला	१ छटाँक
४ छटाँक (२० तोला)	१ पाव
४ पाव (१६ छटाक-८० तोला)	१ सेर
४० सेर	१ मन

घन पदार्थका अंगरेजी तौल—Imperial System
(जो अंगरेजी साम्राज्यमें प्रचलित है।)

ग्रेन	१ गेहूँभर
४३७॥ ग्रेन	१ औंस (आउंस)
१६ औंस या ७००० ग्रेन	१ पौंड (पाउंड)
१४ पौंड	१ स्टोन
२८ पौंड	१ क्वार्टर
४ क्वार्टर	१ हंड्रवेट
२० हंड्रवेट	१ टन

---

१ इस समय व्यवहारमें चरकमतानुसार ८ रत्तीका माशा और १२ माशेका १ तोला लिया जाता है। २ ग्रेन लगभग १ यव या माष(उड़द)के बराबर होता है। १ तोला १८० ग्रेन और १९२ यवका होता है। अर्थात् तोलेके पीछे १२ यवका फर्क पड़ता है। ३ इस हिसाबसे चाँदीकी अठन्नी ९० ग्रेनभर, चवन्नी ४५ ग्रेनभर और दुअन्नी २२॥ ग्रेनभर होती है। ४ पौंडको भाषामें रतल कहते हैं।

घन पदार्थका यूरोपीय मान Metric System

(जो अंगरेजी साम्राज्य छोड़कर यूरोपके अन्य देशोंमें प्रचलित है ।)

१ ग्राम	लगभग १५३/५ ग्रेन
१ डेसिग्राम	१ ग्रामका एक दशांश
१ सेन्टिग्राम	१ ग्रामका एक शतांश
१ मिलिग्राम	१ ग्रामका एक सहस्रांश
१ किलोग्राम	१ हजार ग्राम

द्रवयमान (द्रव पदार्थका मान–परिमाण)

Measures of Capacity (Volumes)

द्रव पदार्थका आयुर्वेदीय मान

तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृ(स्रु)ताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः (सु. चि. अ. ४०) ॥

अङ्गुष्ठसमीपवर्तिन्यङ्गुलिः प्रदेशिनी, तत्पर्वद्वयच्युता बिन्दवः । शुक्तिः द्वात्रिंशद्बिन्दवः । पाणिशुक्तिः चतुःषष्टिबिन्दवः (ड.) ॥

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ।
यावत् पतत्यसौ बिन्दुः × × × × ॥ (अ. हृ. सू. अ. २०)
प्रदेशिन्या निमग्ने द्वे पर्वणी निर्गतस्ततः ।
नस्यादिषु तु विज्ञेयो भिषग्भिर्बिन्दुसंज्ञितः ॥
बिन्दुभिश्चाष्टभिः शाणः प्रोक्तश्चैव भिषक्तमैः ।
द्वात्रिंशद्बिन्दुभिश्चात्र शुक्तिश्चैव निगद्यते ॥
द्वे शुक्ती पाणिशुक्तिश्च नस्यकर्मणि पूजिता ।

(टोडरानन्दमें उद्धृत वृद्धहारीतवचन)

१ बिन्दु	प्रदेशिनी अँगुलीके दो पर्वोंको द्रव पदार्थमें डुबोकर ऊँचे उठानेसे गिरी हुई एक बूँद (टोपा-कतरा)
८ बिन्दु (बूँद)	१ शाण (द्रवपदार्थका)
३२ बिन्दु	१ शुक्ति
६४ बिन्दु	१ पाणिशुक्ति

वक्तव्य—पाणिशुक्तिके आगेका द्रवपदार्थका मान आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आता । द्रवपदार्थके कुडवका मान शार्ङ्गधरने लिखा है । उसको इसी खण्डमें पृ. ११ पर देखें । आयुर्वेदीय पाणिशुक्ति ६४ बिन्दुकी और अंग्रेजी फ्लुइड् ड्राम ६० बिन्दुका होता है । दोनोंमें ४ बिन्दुका फर्क पड़ता है ।

द्रवपदार्थका अंगरेजी मान—Imperial System

(जो ब्रिटिश साम्राज्यमें प्रचलित है)

१ बूँद (ड्रोप्)	१ मिनिम
६० मिनिम (बूँद)	१ फ्लुइड् (तरल) ड्राम
८ फ्लुइड् ड्राम	१ फ्लुइड् औंस
१६ फ्लुइड् औंस	१ फ्लुइड् पौंड
२० फ्लुइड् औंस	१ पाइन्ट
८ पाइन्ट	१ गेलन

द्रव पदार्थका यूरोपीय मान—Metric System

(जो ब्रिटिशसाम्राज्य छोड़कर सारे यूरोपमें प्रचलित हैं)

१ मिलिलिटर	१६·७°	डिग्री (सेन्टिग्रेड)	१ ग्राम	परिस्रुत	जलका	परिमाण	(आयतन)
१ सेन्टिलिटर	,,	,,	१०	,,	,,	,,	,,
१ डेसिलिटर	,,	,,	१००	,,	,,	,,	,,
१ लिटर	,,	,,	१०००	,,	,,	,,	,,

पांय्यमान—(दैर्घ्य—लंबाईका मान)

Measures of Length

दैर्घ्यका भारतीय मान

१ अङ्गुल	८ यवोंको मध्यभागमें सूईमें पिरोनेसे जो लंबाई होती है वह (लगभग ¾ इंच)
१२ अंगुल	१ वितस्ति (बिलाँद, बित्ता, बालिस्त) लगभग ९ इंच ।
अरत्नि	लगभग २२ अंगुल—(१६॥ इंच ।)
२ वितस्ति (२४ अंगुल)	१ हस्त-हाथ (१८ इंच)
व्याम	४ हाथ (६ फीट)

वक्तव्य—भास्कराचार्यने अपने लीलावती नामके प्रसिद्ध गणितके ग्रन्थमें ८ यवोदरका १ अँगुल लिखा है—"यवोदरैरङ्गुलमष्टसंख्यैः" (परिभाषाप्रकरण श्लो० ४) । "अष्टौ यवमध्या अङ्गुलम् । मध्यमस्य पुरुषस्य मध्यमाया अङ्गुल्या मध्यप्रकर्षो वाऽङ्गुलम् ।" (अर्थशास्त्रे देशकालमानप्रकरणम्) । "अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः । प्रकोष्ठे विस्तृतकरे हस्तो, मुष्ट्या तु बद्धया । स रत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना । व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् ।" (अ. को. २।६।८४—८७) ।

सुश्रुत निदानस्थानके अर्शोनिदान(नि. अ. २) में लिखा है कि—

रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः ।

इसकी व्याख्यामें गयदास लिखते हैं कि—"यवाध्यर्धः सार्धयवः । एतेन त्रियवोऽङ्गुलः, सार्धेन यवेनार्धाङ्गुलत्वात्" । यहाँ गयदासने ३ यवका अंगुल लिखा है । उन्होंने किसी ग्रन्थका प्रमाण नहीं दिया है । छिले हुए ३ यवोंको नोकें मिलाकर रखनेसे १ अंगुल बनता है ।

लम्बाईका अंगरेजी मान—Imperial System

(जो ब्रिटिश साम्राज्यमें प्रचलित है)

१ टेन्थ्	१ इंचका दशांश
१२ इंच	१ फुट
३ फीट (३६ इंच)	१ यार्ड् (गज)
२२० यार्ड् (गज)	१ फर्लांग
८ फर्लांग	१ मील (१७६० गज=५२८० फुट)

लम्बाईका यूरोपीय मान—Metric System

(जो ब्रिटिश साम्राज्यको छोड़कर सारे यूरोपमें प्रचलित है)

मिटर	३९.३७ इंच
डेसिमिटर	मिटरका दशांश
सेन्टिमिटर	मिटरका शतांश
मिलिमिटर	मिटरका सहस्रांश
किलोमिटर	१००० मिटर

यूनानी वैद्यकके मतसे घन पदार्थोंका मान–वज़न ।

२ खशखाश	१ खर्दल (अरबी), राई (हिं०)
४ खर्दल	१ उरुज़ह (अ०), निरंज (फारसी), चावल (हिं०)
४ उरुज़ह	१ शईरह (अ०), जौ (हि०) या १ हब्बह (अ०), गेहूं (हि०) ग्रेन (अं०)
२ शईरह	१ सुर्ख (फा०), रत्ती (हि०) या तस्सूज (अ०)
२ सुर्ख	१ किरात (अ०)
६ सुर्ख	१ दाँग या आनह (फा०)
८ सुर्ख	१ माशा (हिं०)

३॥ माशा (२८ रत्ती)	१ दिरहम (अ०), दिरम (फा०) करीब १ ड्राम (अं०)
४॥ माशा (३६ रत्ती)	१ मिस्काल (अ०), जौजह, जवझह (अ०)
२० कीरात (४० रत्ती)	१ दीनार (फा०)
२० माशा	१ इस्तार (अ०)
३३॥। माशा (७॥ मिस्काल)	१ औकिय्यह, अवकीय्यह (अ०)
९० मिस्काल (३३॥। तोला)	१ रतल तिब्बी
२ रतल तिब्बी	१ मन तिब्बी या आसार
६४ तोला	१ सेर आलमगीरी (प्रस्थ–सं०)
८४ तोला	१ सेर शाही

द्रवपदार्थका यूनानी मान ।

४॥ माशा	१ चमचह
१२॥ तोला	१ पियाली (प्याली)
२० तोला	१ पियालह (प्याला)

सुश्रुतोक्त कालमान

१ अक्षिनिमेष (मात्रा)	एक अ आदि लघु अक्षरके उच्चारणमें, एक निमेषोन्मेषमें अथवा एक चुटकी बजानेमें जितना समय लगे उतना काल; लगभग $\frac{1}{30}$ सेकंड
१५ अक्षिनिमेष	१ काष्ठा=लगभग ४॥। सेकन्ड
३० काष्ठा	१ कला=लगभग २ मिनिट २२॥ सेकन्ड
२०$\frac{1}{10}$ कला	१ मुहूर्त=लगभग४८ मिनिट
३० मुहूर्त	१ अहोरात्र=१२ घंटा=१४४० मिनिट
१५ अहोरात्र	१ पक्ष (शुक्ल और कृष्ण)
२ पक्ष	१ मास
२ मास	१ ऋतु
६ ऋतु	१ अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन)
२ अयन	१ वर्ष
५ वर्ष	१ युग

युगके ५ वर्षोंके क्रमशः नाम

१ संवत्सर
२ परिवत्सर
३ इदावत्सर
४ इद्वत्सर
५ वत्सर

रसों और प्राणियोंके बलाबल विचारसे किया हुआ ऋतुविभाग

मास	ऋतु	अयन
तपस् (माघ) और तपस्य (फाल्गुन)	शिशिर	उत्तरायण
मधु (चैत्र) और माधव (वैशाख)	वसन्त	
शुचि (ज्येष्ठ) और शुक्र (आषाढ)	ग्रीष्म	
नभस् (श्रावण) और नभस्य (भाद्रपद)	वर्षा	दक्षिणायन
इष (आश्विन) और ऊर्ज (कार्तिक)	शरत्	
सहस् (मार्गशीर्ष) और सहस्य (पौष)	हेमन्त	

दोषचय-प्रकोप-प्रशमनिमित्त किया हुआ ऋतुविभाग

मास	ऋतु
भाद्रपद और आश्विन	वर्षा
कार्तिक और मार्गशीर्ष	शरत्
पौष और माघ	हेमन्त
फाल्गुन और चैत्र	वसन्त
वैशाख और ज्येष्ठ	ग्रीष्म
आषाढ और श्रावण	प्रावृड्

शार्ङ्गधरके मतसे ऋतुविभाग

संक्रान्ति			ऋतु
मेष	और	वृष	ग्रीष्म
मिथुन	और	कर्क	प्रावृड्
सिंह	और	कन्या	वर्षा
तुला	और	वृश्चिक	शरत्
धनुस्	और	मकर	हेमन्त
कुम्भ	और	मीन	वसन्त

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि

पक्षः, स द्विविधः शुक्लः कृष्णश्च । तत्र माघाद्या द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षडृतवो भवन्ति; ते च शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्धेमन्ताः । तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधु-माधवौ वसन्तः, शुचि-शुक्रौ ग्रीष्मः, नभो-नभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरद्, सहः-सहस्यौ हेमन्त इति । त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालप्रविभागकरणादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च । तयोर्दक्षिणं वर्षा-शरद्धेमन्ताः, उत्तरं च शिशिर-ग्रीष्म-वसन्ताः । अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति । संवत्सरः, परिवत्सरः, इदावत्सरः, इद्वत्सरः, वत्सर इत्येवं पञ्च वर्षाणि । ते पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते । इह तु वर्षा-शरद्धेमन्त-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृषः षडृतवो भवन्ति दोषोपचय-प्रकोप-प्रशमनिमित्तम् । ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः । तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति (सु. सू. अ. ६)। "ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः प्रावृण्मिथुनकर्कयोः । सिंहकन्ये स्मृता वर्षा तुलावृश्चिकयोः शरत् ॥ धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ।" (शा. प्र. खं. अ. २)।

भारतीय कालमान प्रचलित

६० विपलं	१ पल
(२॥ विपल	१ सेकन्ड
२॥ पल	१ मिनट)
६० पल	१ घटिका (नाडिका)=२४ मिनट
२ घटिका	१ मुहूर्त=४८ मिनट
३॥। मुहूर्त	१ याम (प्रहर)=३ घंटा= १८० मिनट
४ याम	१ दिन या रात्रि=१२ घंटा=७२० मिनट

कालमान अंग्रेजी

६० सेकन्ड	१ मिनट
६० मिनट	१ अवर (घंटा)
२४ अवर (घंटा)	१ अहोरात्र
३६५ अहोरात्र	१ वर्ष (सौर)

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे मानपरिभाषाविज्ञानीयाध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

भेषजकल्पनाविज्ञानीयाध्यायो द्वितीयः ।

अथातो भेषजकल्पनाविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोचुरात्रेयधन्वन्तरिप्रभृतयः ॥ १ ॥

द्रव्याणि हि औद्भिद-जाङ्गम-पार्थिवरूपाणि कल्पनामन्तरेण तद्रूपाण्येव न शरीरे प्रयोक्तुं शक्यन्ते, अतस्तेषां कल्पनाविज्ञानार्थं भेषजकल्पनाविज्ञानीयाध्याय आरभ्यते । भेषजानामौषधद्रव्याणां कल्पना कल्पनं शरीरे प्रयोगार्थं पेषण-तोयाग्न्यादियोगेन संस्करणम् । सा च कषाय-स्नेहासवादिभेदेन बहुविधा । तासां विज्ञानार्थं कृतोऽध्यायो भेषजकल्पनाविज्ञानीयाध्यायः ॥ १ ॥

किसी भी औद्भिद, जाङ्गम या पार्थिव द्रव्यका चूर्ण, क्वाथ, भस्म आदि कल्पना किये बिना उसी रूपमें शरीरपर प्रयोग नहीं किया जा सकता, अतः उनकी स्वरसादि कल्पनाओंके ज्ञानके लिये भेषजकल्पनाविज्ञानीयाध्यायका प्रारम्भ किया जाता है ॥१॥

पञ्चविधकषायकल्पना ।

पञ्च कषाययोनयः—

पञ्च कषाययोनय इति मधुरकषायः, अम्लकषायः, कटुककषायः, तिक्तकषायः, कषायकषायश्च, इति तन्त्रे संज्ञा ॥ २ ॥ (च. सू. अ. ४) ।

कषाययोनयः पञ्च रसा लवणवर्जिताः ॥ ३ ॥

(अ. हृ. क. अ. ६) ।

कषाययोनयोऽभिधीयन्ते—पञ्चेत्यादि । कषायस्य योनयः आकराः; तेभ्य एव पञ्च कषायाः स्वरसादयः संभवन्ति । मधुरकषाय इति मधुरश्चासौ कषायश्च मधुरकषायः । एवं शेषेष्वपि । मधुरादिरसानां स्वरसादिकल्पनायोगो न संभवति, तस्माद्गुण-गुणिनोरभेदोपचारादिह मधुरादिरसग्रहणेन तदाश्रयद्रव्याणां ग्रहणं मन्तव्यम् । तेन मधुरकषाय इति मधुरद्रव्यकृतः कषाय इत्यर्थः । एवं शेषेष्वपि । कषायकषायश्चेत्यत्र चकार एवार्थे, लवणरसव्यवच्छेदार्थम् । तन्त्रे संज्ञेति अग्निवेशतन्त्रे संज्ञा रूढिः । लवणरसं वर्जयित्वा मधुरादयो रसाः कषायसंज्ञया व्यवह्रियन्त इत्ययं स्वतन्त्रसमय इति सूचयति, नात्र परतन्त्रव्यवहार इति । लवणस्य कषायत्वं नेष्यते, तत्र स्वरसादिकल्पनानामसंभवात् । तथा च—न तावल्लवणस्य स्वरसकल्पनायोगः संभवति, सदैव शुष्करूपत्वात्; कल्ककल्पनाऽपि न संभवति, यतः

---

१ "कल्ककल्पनाऽपि न संभवति, यतो यद्द्रव्यं द्रवेण सिक्तं पिण्डीभवति न तु विलीयते तत् कल्कसंज्ञामासादयति । तथा यद्द्रव्यं क्राथयित्वा जलादुद्ध्रियते, द्रव्यावयवास्तु जलमनुप्रविशन्ति, तत्रैव शृतकल्पना । लवणस्य तु विलीनरूपत्वादेवं न संभवतीति शृतकल्पनाया अप्यसंभवः । एवं शीत-फाण्टयोरप्यनेन न्यायेनासंभवः ।" अ. द. ।

कल्को हि आर्द्रद्रव्यस्य पेषणात्, शुष्कद्रव्यस्य द्रवेण पेषणाद्वा क्रियते; लवणं हि द्रवयोगाद्द्रवमेव भवति; यद्यपि कल्कस्यैव भेदश्चूर्णं, चूर्णता लवणस्य संभवति, तथाऽपि लवणस्य चूर्णरूपता न पूर्वस्मादचूर्णरूपात् कञ्चिच्छक्तिविशेषमापादयति, शक्तिविशेषकल्पनार्थं च कल्पना क्रियते, तस्माच्चूर्णमपि लवणस्य कल्पनमकल्पनमिव । शृत-शीत-फाण्ट-कल्पनास्तु द्रव्यस्य कार्त्स्न्येनानुपयोज्यस्य तत्तत्संस्कारवशाद्द्रवेषु द्रव्यस्य स्तोकावयवानुप्रवेशार्थमुपदिश्यन्ते; लवणे चैतन्न संभवति, लवणं हि द्रवसंबन्धे सर्वात्मनैव द्रवमनुगतं भवति । तस्माल्लवणं पृथक्प्रयोगाभावात् कल्पनाऽसंभवाच्चाचार्येण कषायसंज्ञाप्रणयने निरस्तमिति ॥ २ ॥ ३ ॥

लवण रसको छोड़कर मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्य स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फाण्ट इन पाँच प्रकारकी कषायकल्पनाके आश्रयभूत (योनि) हैं। मधुर आदि पाँच रसवाले द्रव्योंसे बने हुए कषायकल्पोंको अग्निवेशतन्त्रमें **मधुरकषाय, अम्लकषाय, कटुकषाय, तिक्तकषाय** और **कषायकषाय** ये संज्ञाएँ (रूढ नाम) दी जाती हैं । लवणकी स्वरसादि पाँचोंमेंसे कोई भी कल्पना नहीं बन सकती, इसलिये उसको **लवणकषाय** यह संज्ञा नहीं दी जाती । लवणसे स्वरस नहीं निकल सकता, क्योंकि वह सदा सूखा ही रहता है । लवणका कल्क नहीं बन सकता, क्योंकि गीले द्रव्यको पीसनेसे या सूखे द्रव्यमें जल मिलाकर पीसनेसे कल्क बनता है, परन्तु लवण सदा सूखा रहता है और जल मिलानेसे वह द्रवरूप ही हो जाता है । यद्यपि चूर्णको कल्कका ही भेद माना जाता है और लवणका चूर्ण बन सकता है, परन्तु लवणकी चूर्णरूप कषायकल्पना करना न करने जैसा है; क्योंकि कषायकल्पना गुणान्तराधानके लिये की जाती है, परन्तु लवणका चूर्ण करनेसे उसके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं आता । लवणकी शृत, शीत और फाण्ट ये कल्पनाएँ भी नहीं की जा सकतीं, क्योंकि द्रव्यका सारभाग न्यूनाधिक प्रमाणमें जलमें लाने और शेष भाग (सिट्ठी) फेंक देनेके लिये शृत, शीत और फाण्ट ये तीन कल्पनाएँ की जाती हैं; परन्तु लवण सारा द्रवमें घुल जाता है, उसका कुछ भी अंश फेंका नहीं जाता, अतः लवणकी शृत, शीत और फाण्ट ये तीनों कल्पनाएँ भी नहीं हो सकतीं । इस प्रकार लवणमें पाँचों कषायकल्पनाओंका असंभव होनेसे उसको **'कषाय'** संज्ञा नहीं दी गई है ॥ २ ॥ ३ ॥

पञ्चविध कषायकल्पना—

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति; तद्यथा—स्वरसः, कल्कः, शृतः, शीतः, फाण्टश्च कषाय इति । तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी, न त्वेवं सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति ॥ ४ ॥ (च. सू. अ. ४) ।

अथातः स्वरसः कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ ।
ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥ ५ ॥
(शा. म. खं. अ. १)।

कल्पनम् उपयोगार्थं प्रकल्पनं संस्करणमिति यावत् । तच्च कषाय-स्नेहासवादि-भेदेन बहुविधम् । तत्र कषायकल्पनं पञ्चविधम् । फाण्टश्चेति चकारात् स्वरस इत्यादिभिः पञ्चभिः 'कषाय' इत्यस्यान्वयः; तेन स्वरसः कषायः, कल्कः कषायः, इत्याद्यपि बोद्धव्यम् । तेषां स्वरसादीनाम् । यथापूर्वं बलाधिक्यमिति पूर्वं पूर्वं बलाधिकम्, उत्तरोत्तरं बलाल्पमिति; बलं, शक्तिः, वीर्यम्, इत्यनर्थान्तरम् । पूर्वं पूर्वं गुरु, उत्तरोत्तरं लघ्वित्यर्थः१ यथोक्तं शार्ङ्गधरे—"लघवः स्युर्यथोत्तरम्" इति । यतो यथापूर्वं गुर्वी कषायकल्पना, अत एव व्याध्यातुरबलापेक्षिणी; व्याधेरातुरस्य च बलमपेक्षत इत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह—न त्वेवमित्यादि । बलवति पुरुषे व्याधौ च द्रव्यसारभागमयत्वेनात्यर्थं गुरुर्बहुकार्यकरः स्वरसो युज्यते; नायमल्पबले पुरुषे रोगे वा योगवान् भवति, बलभ्रंश-भेषजातियोगदोषकर्तृत्वात् । एवमन्यत्रापि व्याख्येयम् । तथा न सर्वाणि स्वरसादीनि सर्वत्र पुरुषे योग्यानि भवन्ति; यतः केचित् स्वरसद्विषः, केचित् स्वरसप्रिया इतरकल्पनाद्विषः, एवमादि । न चात्यर्थं द्विष्टभेषजस्य प्रयोग इष्यते, तत्क्षणं वमनारुच्यादिकर्तृत्वात् । तथा कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणीत्येतदुदाहरणार्थं; तेन द्रव्यापेक्षिणीत्येतदपि बोद्धव्यम् । यतो द्रव्यनियमेन कल्पनानियमं वक्ष्यति रसायने; यथा—"मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः, क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् । रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः, कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥" (च. चि. अ. १) इति । अत्र चूर्णोपदेशाच्चूर्णकल्पना कथमिह नोक्तेति चेन्न, तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाप्लुतोपदेशाच्च कल्कादभेदात् कल्क एवान्तर्भावः । तथा च सद्रवाद्रवतया कल्क एव द्विविधः ॥ ४ ॥ ५ ॥

स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फाण्ट ये पाँच प्रकारकी कषायकल्पनाएँ हैं । उनको **स्वरसकषाय, कल्ककषाय, शृतकषाय, शीतकषाय और फाण्टकषाय** कहते हैं । उनमें फाण्टसे शीत, शीतसे शृत, शृतसे कल्क और कल्कसे स्वरस गुरु और अधिक बल(शक्ति–वीर्य)वाला है । इसके विपरीत स्वरससे कल्क, कल्कसे शृत, शृतसे शीत तथा शीतसे फाण्ट लघु और अल्पबलवाला है । अतः व्याधि और रोगका बल तथा द्रव्यका विचार करके पाँचोंमेंसे किसी एक कषायकी कल्पना करनी चाहिये । सब प्रकारके कषाय सर्व रोगियोंके लिये एकसे उपयोगी नहीं होते ॥ ४ ॥ ५

---

१ "लिह्याच्चूर्णं द्रवैः सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः । पिबेच्चतुर्गुणैरेव चूर्णमालोडितं द्रवैः ॥" (शा. म. खं. अ. ६) ।

वक्तव्य—कल्प, कल्पन और कल्पना ये एकार्थवाचक शब्द हैं। औषधद्रव्यका उसी स्वरूपमें शरीरपर प्रयोग नहीं किया जा सकता, अतः औषधद्रव्यपर पीसना, कूटना, जलके साथ उबालना, जलमें भिगोना आदि संस्कार करके उनको शरीरपर प्रयोग करनेके लिये उपयुक्त किया जाता है। जिन क्रियाओंसे औषधद्रव्योंको प्रयोग करनेके लिये उपयुक्त बनाया जाता है उन क्रियाओंको कल्पना कहते हैं।

यहाँ पाँच प्रकारकी कषायकल्पनाओंमें कल्कमें ही चूर्णका अन्तर्भाव होता है। चूर्णको एक प्रकारका कल्क ही माना जाता है। इसका खुलासा आगे चूर्णके प्रकरणमें करेंगे (वहीं इस विषयको देखें)। औषधद्रव्योंकी सब कल्पनाओंमें स्वरसादि पाँच कल्पनाएँ ही मुख्य और प्राथमिक हैं। अन्य कल्पनाएँ इनमेंसे किसी एक कल्पनाके बाद ही बनाई जाती हैं। गोलियां पहले द्रव्योंका कल्क करके पीछे बनाई जाती हैं। घृत और तैल पकानेमें औषध द्रव्योंका कल्क, स्वरस और क्वाथ दिया जाता है। आसव बनानेमें औषधद्रव्योंका स्वरस, कल्क-चूर्ण और क्वाथ लिया जाता है। रसक्रिया (फाणित, अवलेह और घन) बनानेमें भी औषधद्रव्योंका स्वरस, क्वाथ या चूर्ण बनाना पड़ता है। इस प्रकार अन्य जितनी औषधकल्पनाएँ इस ग्रन्थमें लिखी जायँगी उन सबमें पहले इन पाँचोंमेंसे औषधद्रव्यकी कोई एक कल्पना बनानेके बाद ही दूसरी कल्पना बन सकेगी। अतः ये पञ्चविध कल्पनाएँ औषधकल्पनाओंमें मुख्य और प्राथमिक (अन्य कल्पनोंकी मूलभूत) कल्पनाएँ हैं।

औषधकल्पनाएँ सब समान गुरु या लघु, अधिकबलवाली या अल्पबलवाली नहीं होतीं। अतः रोग और रोगीके बलाबलका विचार कर तथा प्रयोजन देखकर औषधद्रव्योंकी कल्पना और प्रयोग करनेका शास्त्रमें उपदेश दिया गया है। रोग और रोगी बलवान् हो तो उसके लिये स्वरस या कल्ककी, रोग और रोगी मध्यबल हो तो उसके लिये क्वाथकी तथा रोग और रोगी अल्पबल हो तो उसके लिये शीत या फाण्टकी कल्पना बनानी चाहिये। द्रव्यका विचार करके कल्प बनानेका शास्त्रने उपदेश दिया है। कल्पना बनाते समय यह देखना आवश्यक है कि—यह द्रव्य आर्द्र है या सूखा, इस द्रव्यमें आर्द्रावस्थामें वीर्य अधिक रहता है या शुष्कावस्थामें; इस बातका विचार करके कल्पके लिये द्रव्य आर्द्र या सूखा लेना चाहिये। इसके सिवाय द्रव्यके पत्र, पुष्प, फल, त्वचा, शाखा, सार, मूल आदि किस अंगमें उसका वीर्य अधिक रहता है इसका विचार करके कल्पके लिये द्रव्यका वह अंग लेना चाहिये। द्रव्यके पार्थिव, जलीय, वायव्य या तैजस किस अंशमें वीर्य अधिक प्रमाणमें रहता है इसका विचार करना भी आवश्यक है। द्रव्यका वीर्य यदि पार्थिवांशमें है तो उसका कल्क या चूर्ण बनाना अच्छा है; यदि जलीय अंशमें है तो उसका स्वरस लेना चाहिये; यदि वायव्य और तैजस अंशमें है—जैसे लवंग, चंदन, दालचीनी आदि सुगन्धि द्रव्यमें तो उसका चूर्ण, कल्क, शीत, फाण्ट या अर्क बनाना चाहिये। सुगन्धिद्रव्योंका

क्वाथ करनेसे उनका वीर्य जो वायव्य और तैजस अंशमें है वह गरम होनेसे बाष्पके साथ उड़ जाता है । कई द्रव्योंमें गुणकारक वीर्यके साथ कुछ हानिकर वीर्य भी रहता है । वह कल्पमेंसे हटानेके लिये क्षीरपाक आदि कल्पनाएँ की जाती हैं। जैसे–अर्जुनमें हृद्य वीर्यके साथ कषायांश भी रहता है, वह कल्पमें अधिक प्रमाणमें न आवे इसलिये उसका क्षीरपाक किया जाता है । लहसुन और भिलावेके तीक्ष्ण वीर्यको कम करनेके लिये उसका क्षीरपाक किया जाता है । हमने यहां केवल दिग्दर्शनार्थ यह विषय लिखा है । बुद्धिमान् वैद्य स्वयं ऊहापोह कर ऊपर लिखी सब बातोंका विचार करके किस रोगीके लिये किस द्रव्यका कौनसा कल्प बनाया जावे इसका निर्णय करे ।

स्वरसकषायः ।

स्वरसकल्पना—

यन्त्रनिष्पीडिताद्द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते ॥ ६ ॥ (च. सू. अ. ४) ।

तत्र सद्यःसमुद्धृतप्रक्षालितक्षुण्णस्य तान्तवनिष्पीडितस्य निर्यासः स्वरसः (अ. स. क. ८) ॥ ७ ॥

सद्यः समुद्धृतात् क्षुण्णाद्यः स्रवेत् पटपीडितात् ॥
स्वरसः स समुद्दिष्टः × × × × × × × × ॥ ८ ॥ (अ. हृ. क. अ. ६)
अहतात्तत्क्षणाकृष्टाद्द्रव्यात् क्षुण्णात् समुद्धरेत् ।
वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते ॥ ९ ॥

(शा. म. खं. अ. १) ।

अहतात् कृम्यादिभिरदूषितात्, तत्क्षणाकृष्टात् सद्य उत्पाटितात्, यस्मिन्नेव दिने समुद्धृतं तस्मिन्नेव दिने जलेन प्रक्षाल्य, क्षुण्णात् उलूखलादिषु मुसलादिभिः कुट्टितात् शिलायां पिष्टाद्वा, यन्त्रेण निष्पीडितात् हस्ताभ्यां वा पीडिताद् द्रव्यात्, वस्त्रनिष्पीडितः पटेन परिस्रुतो यो रसः स 'स्वरस' इत्युच्यते ॥ ६–९ ॥

कृमि आदिसे अदूषित ताजी–हरी वनस्पति ला, उसको जलसे धो, छोटे टुकड़े कर, ऊखलमें कूट या शिलापर पीस, यन्त्रसे या हाथसे दबाकर रस निकाले, फिर उसको कपड़ेसे छान ले। इस प्रकार निकाले हुए रसको 'स्वरस' कहते हैं ॥ ६–९ ॥

स्वरसाभावेऽनुकल्पः—

स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः—चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत् प्रयोज्यम् ॥ १० ॥

(च. चि. अ. १, पा. २) ।

आर्द्रासंभवे शुष्काणां चूर्णीकृतानामाढकं यथेष्टपरिमाणं वा गृहीत्वा, तावन्माने जले प्रक्षिप्य, अहोरात्रस्थितं, मृदितपूतम् आदौ हस्ताभ्यां मर्दितं पश्चात् पूतं वस्त्रेण गालितं कृत्वा, तत् स्वरसवत् प्रयोज्यम् ॥ १० ॥

यदि आर्द्र (हरे-ताजे) द्रव्यका स्वरस न मिले तो सूखे द्रव्यका यथावश्यक चूर्ण कर, उसको उतने ही जलमें डाल, मृत्पात्रमें २४ घंटा ढककर रख छोड़े । दूसरे दिन हाथसे मसल, कपड़ेसे छानकर उसका स्वरसके समान प्रयोग करे । इस प्रकार बनाए हुए स्वरसका खासकर चूर्णको भावना देनेके लिये प्रयोग होता है । चरकने यह अनुकल्पविधि औषधोंकी भावनाके प्रकरणमें ही लिखी है ॥ १० ॥

स्वरसमात्रा—

स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्धं प्रयोजयेत् ।
अहोरात्रोषितं चाथ पलमात्रं रसं पिबेत् ॥ ११ ॥

कषायोंकी सब कल्पनाओंमें स्वरस गुरु और बलाधिक होनेसे उसकी आधे पल (२ तोले)की मात्रा पीनेको देना चाहिये । अनुकल्पसे बनाए हुए स्वरसको १ पल (४ तोले)की मात्रामें देवे । यह मात्रा मृदुवीर्य औषधोंकी जानना चाहिये । यदि मध्यवीर्य औषधोंका स्वरस हो तो उसकी इससे आधी (१ तोलेकी) और तीक्ष्णवीर्य औषधोंका स्वरस हो तो इससे चौथाई (॥ तोलेकी) मात्रा देना चाहिये ॥११॥

स्वरसे प्रक्षेपद्रव्यमानम्—

घृतं सितां गुडं क्षौद्रं कोलमात्रं रसे क्षिपेत् ।
लवणक्षार-चूर्णानि योग्यमानानि दापयेत् ॥ १२ ॥

स्वरसमें घी (तेल), मिश्री, गुड़ और शहद डालनेको लिखा हो तो दो तोले स्वरसमें आधे तोलेके प्रमाणमें डाले । लवण, क्षार और पीपल आदिका चूर्ण रोग और रोगीका बल देखकर योग्य प्रमाणमें डाले ॥ १२ ॥

वक्तव्य—जो ओषधियां सदा ताजी-हरी मिल सकती हैं, जिनमें आर्द्रावस्थामें ही सारभाग अधिक रहता है और जिनका सारभाग उनके द्रवांशमें अधिक पाया जाता है, प्रायः उन ओषधियोंका स्वरस लेनेका शास्त्रमें उपदेश पाया जाता है । स्वरस गुरु और बलाधिक होनेसे रोग और रोगी बलवान् हो वहाँ उसका प्रयोग करना चाहिये । औषधकी गुणवृद्धिके लिये उसके चूर्णको उसीके स्वरसकी भावनाएँ[1] दी जाती हैं । रसौषधोंको गुणवृद्धि या दोषपरिहारके[2] लिये वनस्पतियोंके स्वरसोंकी भावनाएँ दी जाती हैं । कई रसौषधोंके अनुपानके रूपमें स्वरसोंका प्रयोग होता है । धातुओंकी भस्म बनाते समय उनको वनस्पतियोंके स्वरसोंकी भावनाएँ दी जाती हैं । ये स्वरसकल्पनाके मुख्य प्रयोजन हैं ।

---

१ स्वरसोंकी भावनाओंसे औषधका गुण बढ़ता है और अल्पमात्रामें देनेसे भी वह विशेष कार्य करता है "भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः । सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् ॥" (च. क. अ. १२) । २ जैसे—अश्वकञ्चुकीरसको जमालगोटेके दोषके परिहारार्थ भंगरेके स्वरसकी २१ भावनाएँ दी जाती हैं ।

पुटपाकविधिः—

पुटपक्वस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः ।
अतस्तु पुटपाकस्य विधिरत्रोच्यते मया ॥ १३ ॥
द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं ततः ।
गोलं विधाय, वृक्षाणां पत्रैरावेष्टयेद्दृढम् ॥ १४ ॥
सूत्रेण बद्ध्वा, गोधूमपिष्टेन परिवेष्टयेत् ।
तत आर्द्रमृदा लिप्त्वा, गोमयाग्नौ प्रतापयेत् ॥ १५ ॥
अङ्गारवर्णां च मृदं दृष्ट्वा वह्नेः समुद्धरेत् ।
ततो रसं वस्त्रपूतं पुटपक्वं प्रदापयेत् ॥ १६ ॥

कई द्रव्योंका पुटपाक करके स्वरस लिया जाता है इसलिये पुटपाक करनेकी विधि लिखते हैं—द्रव्य आर्द्र हो तो उसको वैसा ही शिलापर पीसकर कल्क करे; यदि सूखा हो तो उसका कपड़छान चूर्ण कर, उसमें थोड़ा जल छोड़कर कल्क बनावे । पीछे उस कल्कका गोला बना, उसपर बड़-जामुन-कमल आदि किसी मृदुवीर्य वनस्पतिके पत्ते लपेट, गोलेको सूतसे दृढ़ बाँध, ऊपर जलमें गूँधे (साने) हुए गेहूँके आटेका और उसपर पानीमें खूब ममली हुई मिट्टीका दो अंगुल मोटा लेप करके गोला बनाले । पीछे उस गोलेको अंगीठीमें निर्धूम कण्डोंकी आँचमें रखकर पकावे । जब गोलेके ऊपरकी मिट्टी लाल हो जाय तब गोलेको थोड़ा ठंडाकर ऊपरकी मिट्टी, गेहूँका आटा, सूत और पत्ती निकाल, कल्कको कपड़ेमें रख, हाथसे दबा, निचोड़कर स्वरस निकाले ॥ १३–१६ ॥

वक्तव्य—नीम, बेल, अडूसा आदि कुछ वृक्षोंकी पत्ती–छाल आदिको गरम किये विना उनसे स्वरस ठीक नहीं निकलता, अतः उनसे स्वरस निकालनेके लिये पुटपाककी कल्पना की गई है । बेल, नीम आदिकी पत्तीसे एक और प्रकारसे भी स्वरस निकाला जाता है—एक आधे जलभरे हुए चौड़े मुँहके पात्रपर ढीला कपड़ा बाँध, उसपर जलसे धोई हुई पत्ती रख, उसपर थाली ढाँक, अग्निपर १५–२० मिनट गरम होने दे । पीछे पत्तियोंको तुरत पीसकर कपड़ेसे निचोड़ लेनेसे स्वरस निकल आता है । पुटपाक स्वरस निकालनेके लिये किया जाता है, अतः पुटपाकका विधान स्वरसके प्रकरणमें लिखा है[१] ।

---

१ ताजी वनस्पतियोंको पीसकर या ताजे फलोंको दबाकर जो रस निकाला जाता है उसको **स्वरस** कहते है । स्वरसके पर्याय–(हिं.) निचोड़, रस; (अ.) असीर; (फा.) अफ्शुरदा; (अं.) एक्स्प्रेस्ड् जूस (Expressed, juice); (ले.) सक्स (Succus) । आधुनिक औषधनिर्माता स्वरसको चिरस्थायी बनानेके लिये ३ भाग स्वरसमें १ भाग ९० प्रतिशतका सुरासार (Alcohol) मिलाकर ७ दिन रख छोड़ते हैं । पीछे कपड़ेसे छानकर शीशीमें भर लेते हैं ।

कल्ककषायः ।

कल्ककल्पना; कल्कमात्रा च—

यः पिण्डो रसपिष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥

(च. सू. अ. ४)

उपलदशनादिपिष्टस्तु कल्कः ॥ १८ ॥ (अ. सं. क. अ. ८)

दशनग्रहणेनापिष्टस्यापि भक्षितस्य कल्केऽन्तर्भाव उक्तः (इन्दुः)। दशनपेषणे लालैव द्रवः (हे.) ॥

द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत् ।
प्रक्षेपावाप-कल्कास्ते तन्मानं कर्षसंमितम् ॥ १९ ॥

(शा. म. खं. अ. ५)।

आर्द्रं सद्य उद्धृतम् । पक्षान्तरकल्कविधौ शुष्कमपि द्रव्यं जलेन पिष्टं कल्कसंज्ञं भवति (शा. दी.) ॥

द्रव्य आर्द्र हो तो उसको जलसे धोकर और सूखा हो तो उसके कपड़छान चूर्णमें जल मिलाकर शिलापर (अथवा दाँतोंसे) महीन पीस ले । उसको कल्क, प्रक्षेप और आवाप कहते हैं । खानेके लिए जो दिया जाता है उसके लिये 'कल्क' शब्दका और घृत, तैल, आसव आदिमें प्रक्षेपके लिये जो बनाया जाता है उसके लिये कल्क, प्रक्षेप और आवाप शब्दका प्रयोग होता है । कल्ककी खानेकी मात्रा १ तोले भरकी है । यह मात्रा मृदुवीर्य औषधके कल्ककी जानना चाहिये । मध्यवीर्य औषधके कल्ककी आधे तोलेकी और तीक्ष्णवीर्य औषधके कल्ककी पाव तोलेकी मात्रा देना चाहिये ॥ ७–१९ ॥

कल्के प्रक्षेपद्रव्यमात्रा—

कल्के मधु घृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया ।
सितागुडौ समौ दद्याद्द्रवा देयाश्चतुर्गुणाः ॥ २० ॥

कल्कमें मधु (शहद), घृत या तैल मिलाकर देनेको लिखा हो तो कल्कसे द्विगुण मात्रामें मिलाकर देवे; मिश्री और गुड़ मिलानेको लिखा हो तो कल्कके बराबर मिलाकर देवे । कल्कको जल, दूध आदि द्रवपदार्थमें मिलाकर पीनेको लिखा हो तो कल्कसे चारगुने द्रवमें मिलाकर पिलावे ॥ २० ॥

वक्तव्य—स्वरसमें द्रव्यका सारभाग ही लिया जाता है और काष्ठभाग फेंक दिया जाता है; परन्तु कल्कमें सारभाग तथा काष्ठभाग दोनों लिये जाते हैं, अतः स्वरसकी अपेक्षया कल्क लघु (अल्पवीर्य) होता है । जिन द्रव्योंका वीर्य (सारभाग) द्रवांश और काष्ठभाग दोनोंमें होता है जैसे—लहसुन, उन द्रव्योंका कल्क बनाना उचित है ।

---

१ यूनानीवैद्यकमें कल्कको लुगदा कहते हैं । इसीसे लुगदी और लुबदी ये हिंदी शब्द बने हुए हैं ।

दन्दन, बड़ी हड़ आदिको पत्थरके चकलेपर जलके साथ घिसकर कल्क बनाया जाता है। वृद्धवाग्भटने दाँतोंसे चबाकर औषधको महीन पीस लिया जावे तो उसका कल्कमें अन्तर्भाव माना है। यदि औषधको दाँतोंसे चबाकर केवल उसका रस ही निगला जावे और छूँछा (खुज्झी) फेंक दिया जावे तो उसका स्वरसमें और सब खा लिया जावे तो उसका कल्कमें अन्तर्भाव मानना ठीक है।

चूर्णकल्पना—

शुष्कपिष्टः सूक्ष्मतान्तवपटच्युतश्चूर्णः। तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाशुतोपयोगाच्च कल्कादभेदः॥ २१॥ (अ. सं. क. अ. ८)।

कल्कस्य पेषणे पाने चाशुत्वं, चूर्णस्य पान एव। समस्तग्रहणेऽप्यशक्यपेषणस्य त्यागान्न कषायलक्षणाभावः (हे.)।

अत्यन्तशुष्कं यद्द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम्।
तत् स्याच्चूर्णं रजः क्षोदः,
(शा. म. खं. अ. ८)

अत्यन्त सूखे द्रव्यको शिलापर अच्छी तरह पीसकर या इमामदस्तेमें कूटकर महीन कपड़ेसे छान ले, इसको **चूर्ण** कहते हैं। **रज** और **क्षोद** ये चूर्णके पर्यायनाम हैं। चूर्ण बनानेमें भी कल्कके समान सब अंश छोड़ा नहीं जाता और चूर्णको द्रव पदार्थमें मिलाकर खाया जाता है, इसलिये चूर्णको कल्कका भेद माना जाता है॥ २१॥—

चूर्णमात्रा—

×××××× तन्मात्रा कोलसंमिता॥ २२॥
(शा. म. खं. अ. ६)।

चूर्ण आधे तोलेकी मात्रामें खानेको देना चाहिये। यह मात्रा मृदुवीर्य औषधके चूर्णके लिए है। द्रव्य मध्यवीर्य हो तो उसके चूर्णकी पाव तोला और तीक्ष्णवीर्य हो तो उसके चूर्णकी दोअन्नी(१२ रत्ती)की मात्रा देना चाहिये॥ २२॥

चूर्णे प्रक्षेपद्रव्यप्रमाणम्—

चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा द्विगुणा मता।
लिह्याच्चूर्णं द्रवैः सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः॥ २३॥
पिबेच्चतुर्गुणैरेव चूर्णमालोडितं द्रवैः। (शा. म. खं. अ. ६)।

चूर्णमें गुड़ या मिश्री डालनेको लिखा हो और उसका प्रमाण न लिखा हो तो गुड़ बराबर प्रमाणमें और मिश्री द्विगुण प्रमाणमें डाले। घी, शहद या तैल चूर्णसे द्विगुण मात्रामें मिलाकर चटावे। चूर्णको जल, दूध आदि चतुर्गुण द्रवपदार्थमें मिलाकर पीनेको देवे॥ २३॥—

चूर्णे भावनाविधिः—

द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत् ॥ २४ ॥
भावनायाः प्रमाणं तच्चूर्णं प्रोक्तं भिषग्वरैः ॥

चूर्णको स्वरसकी भावना देना हो तो चूर्णमें द्रव पदार्थ इतना डालना चाहिये कि सारा चूर्ण अच्छी तरह तर हो जाय, पीछे उसको मर्दन करके सुखाना चाहिये। सूखनेपर पूर्वोक्त विधिसे फिर भावना और मर्दन करे। इस प्रकार जितनी भावना देनेका विधान हो उतनी भावना दे। अन्तमें गोलियाँ बनाना हो तो गोलियाँ बना ले और यदि चूर्णके रूपमें रखना हो तो सुखा, पीस, कपड़ेसे छानकर शीशीमें भरले। भावनाका प्रयोजन इसी खण्डमें पृ. २५ पर दिया गया है। चूर्णमें औषधद्रव्यके समस्त गुण विद्यमान रहते हैं। चूर्ण ताजा बनाकर व्यवहार करना अच्छा है। अधिक समय पड़ा रहनेसे चूर्ण हीनवीर्य हो जाता है[1] ॥ २४ ॥—

शृतकषायः।

शृत(क्वाथ)कल्पना—

वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः ॥ २५ ॥
(च. सू. अ. ४)।

तत्रान्यतमपरिमाणसंमितानां यथायोगं त्वक्-पत्र-मूलादीनामातपपरिशोषितानां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा, भेद्यान्यणुशो भेदयित्वा, अवकुट्य, अष्टगुणेन षोडशगुणेन वाऽम्भसाऽभिषिच्य, स्थाल्यां चतुर्भागावशिष्टं क्वाथयित्वाऽपहरेदित्येष कषायकल्पः; अथवोदकद्रोणे त्वक्-पत्र-फल-मूलादीनां तुलामावाप्य चतुर्भागावशिष्टं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायकल्पः ॥ २५ ॥ (सु. चि. अ. ३१)।

---

१ यूनानी वैद्यकमें चूर्णको **'सफूफ'** (अ.) कहते हैं और उपयोगके भेदसे चूर्णके ये अलग अलग नाम दिये हुए हैं—**सनून** (मंजन); **ज़रूर** (अवचूर्णन—व्रण आदिपर छिड़कनेके लिये बनाया हुआ सूक्ष्म चूर्ण); **नफूख़** (नलीमें डालकर नाक आदिमें फूँकनेके लिये बनाया हुआ चूर्ण—प्रध्मापन चूर्ण); **अतूस** (छींक लानेके लिये बनाया हुआ सूक्ष्म चूर्ण—नास, नसवार); **कुहूल, सुरमह, बरूद** (आँखमें लगानेके लिये बनाया हुआ सूक्ष्म चूर्ण); **काजल**—किसी पदार्थको जलाकर प्राप्त किया हुआ धूआँ जो नेत्रमें लगाया जाता है (कज्जल); **ग़ाज़ा**—वह सूक्ष्म चूर्ण जो मुखमण्डल आदिपर वर्णप्रसादन या रंग निखारनेके लिये मर्दन किया जाता है। इससे चूर्णका एक पतला स्तर मुखमण्डलपर स्थित हो जाता है। चूर्णको अंग्रेजीमें **पाउडर** (Powder) और लेटिनमें **पल्विस** (Pulvis) कहते हैं।

क्काथो निर्यूहः । तत्र भेद्यान्यणुशो भेदयित्वा, छेद्यानि छेदयित्वा, प्रक्षाल्योदकेन, अधःप्रलिप्तायां ताम्रायोमृन्मयान्यतमायां स्थाल्यां समावाप्य, बह्वल्पपानीयग्राहितामौषधानामाकलय्य, यावता मुक्तरसता स्यात्तावदुदकमासेचयेच्छे(च्छो)षयेच्च । अथाग्नावधिश्रित्य महत्यासने सुखोपविष्टः सर्वतः सततमवलोकयन् दर्व्याऽवघट्टयन् मृदुना परितः समुपगच्छताऽनलेन साधयेत्। अवतार्य च परिस्रुतं यथार्हस्पर्शं प्रयुञ्जीत ॥ २७ ॥ (अ. सं. क. अ. ८)।

मृदौ चतुर्गुणं देयं मध्यमेऽष्टगुणं तथा।
द्रव्ये तु कठिने देयं बुधैः षोडशिकं जलम् ॥ २८ ॥
कर्षादितः पलं यावत् क्षिपेत् षोडशिकं जलम्।
तदूर्ध्वं कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत् ॥ २९ ॥
तदूर्ध्वं प्रक्षिपेन्नीरं खारीं यावच्चतुर्गुणम्।

उद्भिज्ज द्रव्य आर्द्र हों तो उनको जलसे धोकर और सूखे हों तो वैसे ही ले, उनके छोटे छोटे टुकड़े कर, ऊखल या इमामदस्तेमें कूट, नीचे मिट्टीका लेप किये हुए कलईदार ताम्रके, भीतरसे चिकने लोहेके या मिट्टीके बरतनमें डाल, ये द्रव्य कितना जल शोषेंगे और कितने जलमें इनका सारभाग क्काथमें आजायगा इसका विचार कर, उसके अनुसार उसमें ५, ८ या १६ गुना जल छोड़कर मृदु अग्निपर पकावे। पकाते समय बड़े आसन पर सुखपूर्वक बैठकर बड़े कर्छेसे हिलाता रहे और चारों ओरसे एकसी अग्नि लगती है कि नहीं इसका ध्यान रखे । जब देखे कि औषधोंका रस (सारभाग) जलमें आगया है और औषध नीरस हो गये हैं तब पात्रको नीचे उतार, जल सुखोष्ण (हाथसे छू सकें इतना गरम) होनेपर धोये हुए मजबूत कपड़ेसे हाथसे दबाकर समग्र रस छान ले। इसको क्काथ, शृत या निर्यूह कहते हैं। सामान्यतः मृदुद्रव्यमें चारगुना तथा मध्यम द्रव्यमें अठगुना जल छोड़कर चतुर्थांश, और कठिन द्रव्यमें १६ गुना जल छोड़कर अष्टमांश जल शेष रखना चाहिये । मृदु, मध्य और कठिन द्रव्य मिले हुए हों तो अठगुना जल देकर चतुर्थांश जल शेष रखना चाहिये। एवं द्रव्यके प्रमाणके हिसाबसे ४ तोले तक द्रव्य हो तो १६ गुना, ५ से १६ तोले तक द्रव्य हो तो ८ गुना और १६ तोलेके ऊपर द्रव्य हो तो ४ गुना जल देना चाहिये । द्रव्यके प्रमाणके

---

१ जोशाँदा, जोशान्दह (फा०); मतबूख़, तबीख़ (अ०); डिकोक्टम् (Decoctuem) (ले०); डिकोक्शन (Decoction) (अं०); काढ़ा (हिं०)। यूनानी वैद्य कई क्काथोंके निर्माणमें जलके स्थानमें अर्कका प्रयोग करते हैं। प्रायः सुगन्धि द्रव्य, जिनको अधिक न पकाना हो उनको कुछ घंटे या रात्रिभर जल आदिमें भिगोकर पीछे उनका क्काथ करते हैं।

हिसाबसे थोड़े द्रव्यमें ऊपर लिखे हुए प्रमाणसे कम जल डालनेसे जल शीघ्र जल जानेके कारण द्रव्यका सारभाग क्वाथमें ठीक नहीं आने पाता। क्वाथ पिलावे समय दोषादिका विचार करके ठंढा या कुनकुना क्वाथ पिलावे ॥ २५-२९ ॥—

क्वाथमात्रा—

क्वाथस्य मध्यमा मात्रा पलमाना प्रकीर्तिता ॥ ३० ॥

क्वाथ पीनेकी मध्यम मात्रा ४ तोलेकी है ॥ ३० ॥

वक्तव्य—क्वाथका उपयोग पिलानेके अतिरिक्त परिषेचन, आश्चोतन, व्रणप्रक्षालन आदि बाह्य प्रयोगके लिये तथा घृत-तैल-आसव-अवलेह आदि अन्य कल्पोंके निर्माणके लिये भी होता है।

क्वाथे प्रक्षेपप्रमाणम्—

क्वाथे क्षिपेत् सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः ।
वात-पित्त-कफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम् ॥ ३१ ॥
जीरकं गुग्गुलुं क्षारं लवणं च शिलाजतु ।
हिङ्गु त्रिकटुकं चूर्णं क्वाथे माषद्वयोन्मितम् ॥
कल्कं घृतं गुडं तैलं मूत्रं च कर्षसंमितम् ॥ ३२ ॥

क्वाथमें मिश्री या चीनी देना हो तो वातरोगमें क्वाथकी अपेक्षया चतुर्थांश, पित्तरोगमें अष्टमांश और कफरोगमें षोडशांश देना चाहिये। क्वाथमें शहद देना हो तो वातविकारमें षोडशांश, पित्तविकारमें अष्टमांश और कफविकारमें क्वाथकी अपेक्षया चतुर्थांश देना चाहिये। जीरा, गूगल, क्षार, नमक, शिलाजीत, हींग, त्रिकटु तथा अन्य द्रव्योंका चूर्ण क्वाथमें दो माशे (१२ रत्ती) की मात्रामें देवे। कल्क, गुड़, घृत, तैल और गोमूत्र क्वाथमें १ तोलेकी मात्रामें देना चाहिए। शुद्ध हींगका चूर्ण २-५ रत्ती ही देना उचित है। एरंडतैल और गोमूत्र रोगापेक्षया अधिक भी दे सकते हैं। क्वाथ छान कर पिलाते समय उसमें मिश्री-शहद आदि जो द्रव्य ऊपरसे (पीछेसे) मिलाये जावें उनको प्रक्षेप[1] कहते हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—द्रव्यका जलमें घुलनेवाला और उत्तापसे न उड़नेवाला वीर्य क्वाथमें आ जाता है। जिन द्रव्योंका वीर्य उनके अंदर रहे हुए उड़नेवाले तैलमें (वायव्य और आग्नेय अंशमें) रहता है, जैसे—चंदन, सौंफ, लौंग आदि, उनका क्वाथ बनानेसे उनका वीर्य बाष्पके साथ उड़ जाता है और क्वाथ अभीष्टगुणकारक नहीं बनता, अतः ऐसे द्रव्योंका कल्क, चूर्ण, हिम, फाण्ट या अर्क बनाना चाहिये।

---

१ यूनानी वैद्यकमें क्वाथ या फांट तैयार होनेके बाद उसमें ऊपरसे पीसे हुए या बिनें पीसे हुए शुष्क औषधद्रव्यका प्रक्षेप देते हैं, उसको सरदारु या सरदारूज कहते हैं।

प्रमथ्याकल्पना—

प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृता ।
तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥ ३३ ॥

(शा. म. खं. अः २)।

४ तोले औषधके चूर्णको जलमें पीसकर कल्क बनावे। उस कल्कको ३२ तोला जलमें पका, ८ तोला जल बाकी रहनेपर कपड़ेसे छानकर पिलावे । इस कल्पको **प्रमथ्या** कहते हैं ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भटने अतिसारचिकित्सामें "मध्यदोषस्तु विशोषयन् मागधी-नागर-वचा-भूतीक-धनिका-हरीतकीनां क्वाथं पिबेत्, जलद-जल-बिल्वपेशिका-शुण्ठी-धान्यकानां वा; उभयमपि चैतत् **प्रमथ्या**ख्यम्=मध्यदोषवाला अतिसारका रोगी लङ्घन करके पीपल, सोंठ, बच, अजवायन, धनिया और हड़का क्वाथ बनाकर पीवे अथवा नागरमोथा, खस, बेलगिरी, सोंठ और धनियेका क्वाथ बनाकर पीवे । इन दोनों क्वाथोंको **प्रमथ्या** कहते हैं" ऐसा लिखा है । **चक्रपाणिदत्त** "प्रमथ्यां मध्य-दोषाणां दद्याद्दीपनपाचनीम्" (च. चि. अ. १९, श्लो. १९) इसकी व्याख्यामें लिखते हैं कि—"प्रमथ्यामिति पाचन-दीपनकषायं, **प्रमथ्या**शब्दो हि वृद्धपरम्परया पाचन-दीपनकषाये वैद्यकशास्त्रे परिभाषितः श्रूयते=प्रमथ्या याने पाचनदीपन कषाय। वैद्यकमें वृद्धपरंपरासे 'प्रमथ्या' शब्द पाचनदीपन कषायके अर्थमें प्रयुक्त होता है ऐसा सुनते हैं" । **अष्टाङ्गहृदय**की व्याख्या(चि. अ. ९)में **अरुणदत्तने** "कृतयूषः **प्रमथ्या** स्याद्द्रव्यात् कल्कीकृताच्छृतात्=द्रव्यका कल्क बनाकर क्वाथ करनेसे **प्रमथ्या** तैयार होती है" ऐसा तन्त्रान्तरका वचन लिखा है । इसीके आधारपर **शार्ङ्गधरने** यह परिभाषा बनाई है ऐसा मालूम होता है । यहाँ द्रव्यकी चार तोले मात्रा लिखी है वह अधिक है। पहले कल्क बनाकर पीछे क्वाथ करनेसे द्रव्यका सारभाग जलमें अधिक आवेगा। अतः रोगी, रोग और द्रव्यके बलाबलका विचार कर १ से २ तोला द्रव्य लेना उचित है । प्रमथ्या क्वाथका ही एक प्रकार होनेसे उसकी परिभाषा यहाँ क्वाथके प्रकरणमें लिखी है ।

लाक्षारसकल्पना—

षड्गुणेनाम्भसा लाक्षां दोलायन्त्रे विपाचयेत् ।
त्रिसप्तधा परिस्राव्या लाक्षारसमिमं विदुः ॥ ३४ ॥

लाखको छः गुने जलके अन्दर दोलायन्त्रमें पका, चौथाई जल रहनेपर ठंढा कर, इक्कीस बार कपड़ेसे छान ले। इसको **लाक्षारस** कहते हैं । लाक्षारस भी एक प्रकारका क्वाथ है, परंतु सामान्य क्वाथकल्पनासे यह तैय्यार नहीं होता; इसलिये यहाँ क्वाथके प्रकरणमें इसके बनानेका स्वतन्त्र विधान लिखा है ॥ ३४ ॥

मांसरसकल्पना—

रसे साध्ये जलं देयं मांसं सिध्यति यावता ।
(पलाष्टकं जले प्रस्थे घनेऽथ मध्यमे तु षट् ।
मांसस्य वण्टनं कुर्यात् कुडवं तनुके रसे ॥ ३५ ॥)

मांसरस बनाना हो तो जितने जलमें मांस अच्छी तरह पक कर उसका सारभाग जलमें आ जाय उतना जल लेना चाहिये । कई आचार्य कहते हैं कि—यदि मांसरस गाढ़ा बनाना हो तो ६४ तोले जलमें मांस ३२ तोला, मध्यम बनाना हो तो २४ तोला और पतला बनाना हो तो १६ तोला देकर क्वाथविधिसे पकावे । मांस पक जानेपर कपड़ेसे छान ले । इसको **मांसरस** कहते हैं । मांसरस भी एक प्रकारका क्वाथ होनेसे उसकी कल्पना यहाँ क्वाथके प्रकरणमें लिखी है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—मांसरसके **अकृतरस** और **कृतरस** ये दो भेद होते हैं । जो स्नेह(घृत या तैल)का छौंक (बघार) दिये बिना ही बनाया जावे और जिसमें नमक तथा सोंठ आदि कटु द्रव्य—मसाला (और खटाई भी) न डाली जावे उसको **अकृतरस** कहते हैं; तथा जिस रसमें लवण, कटुद्रव्य और स्नेहका छौंक दिया जावे उसको **कृतरस** कहते हैं—"अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना । विज्ञेयं लवण-स्नेह-कटुकैः संयुतं कृतम् ॥" (सु. सू. अ. ४६) ।

क्षीरपाकविधिः—

क्षीरं तिथिगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं समं मतम् ।
क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥ ३६ ॥

क्षीरादिसहितं च द्रव्यं न सम्यङ्मुक्तरसं भवतीति वारिक्वाथपूर्वकं क्षीराद्यैस्तदुपदेशेऽनुपदग्धं क्वाथयेत् ॥ ३७ ॥ (अ. सं. क. अ. ८) ।

औषधद्रव्यको दरदरा कर, उसमें १५ गुना दूध और दूधके बराबर जल डाल, दूध शेष रहे इतना पका कर कपड़ेसे छान ले । इस कल्पनाको **क्षीरपाक** कहते हैं । **वृद्धवाग्भट** लिखते हैं कि—क्षीरादिके साथ औषधको पकानेसे औषध अपना संपूर्ण रस (सारभाग) क्षीरादिमें नहीं छोड़ता, इसलिये प्रथम औषधको जलमें पकाकर, उसके क्वाथके साथ क्षीरादिको, वे जलें नहीं इस प्रकार, पकाना चाहिये ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—पहले (पृ. १४ पर) कषायकल्पनाओंका प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि—कुछ द्रव्योंका कषायांश या तीक्ष्ण वीर्य कल्पमें अधिक प्रमाणमें न आवे इसलिये उनका क्षीरपाक किया जाता है । दशमूल आदिका वृद्धवाग्भटोक्त विधानसे क्षीरपाक करनेमें क्षति नहीं है । परन्तु लहसुन, भिलावा आदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्यों एवं अर्जुनकी छाल, अशोककी छाल आदि कषायद्रव्योंको प्रारम्भसे ही दूधके साथ पकाना

अच्छा है । क्षीरपाकमें लहसुन, भिलावे जैसे द्रव्य १ तोलेसे कम हों तो भी दूध १५ तोला लेना उचित है । क्षीरपाक भी क्वाथका एक प्रकार होनेसे उसका विधान यहाँ क्वाथप्रकरणमें लिखा है । दूधको पचनेमें हलका बनाने और आहार तथा औषधद्रव्य एक साथ देनेके लिये भी क्षीरपाक किया जाता है ॥

उष्णोदककल्पना—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा ।
अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥ ३८ ॥
(शा. म. अ. २)।

जलको औटाकर अष्टमांश, चतुर्थांश या आधा शेष रहने अथवा अच्छी तरह उबलनेतक पका कर कपड़ेसे छान ले । इसे **उष्णोदक** कहते हैं । उष्णोदक अग्निपर पकाकर तैयार किया जाता है अतः उसकी परिभाषा यहाँ क्वाथके प्रकरणमें लिखी है ॥ ३८ ॥

भेषजसिद्धपानीयकल्पना—

यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते ।
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि ॥ ३९ ॥
अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ ।

औषधसिद्ध जल बनाना हो तो १ तोले औषधके चूर्णमें ६४ तोला जल दे, क्वाथविधिसे पका, आधा जल बाकी रहनेपर नीचे उतार, कपड़ेसे छान, ठंढा कर रोगीको यथावश्यक पीनेको दे । औषधसिद्ध जल (षडङ्गपानीय आदि) रोगीको पीनेके लिये दिया जाता है और क्वाथसाध्य यवागू आदि बनानेमें इस प्रकार तैयार किये हुए जलका उपयोग होता है । यह कल्पना भी क्वाथका एक प्रकार होनेसे यहाँ क्वाथके प्रकरणमें लिखी है ॥ ३९ ॥—

क्वाथसाध्ययवागूकल्पना—

यवागूस्त्रिविधा प्रोक्ता मण्डः पेया विलेप्यपि ॥ ४० ॥
"सिक्थकै रहितो मण्डः, पेया सिक्थसमन्विता ॥
यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ।"
(सु. सू. अ. ४६)।

यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् ॥ ४१ ॥
(सु. चि. अ. ३९)।

कुर्याद्भेषजसंसिद्धे विलेपीं तु चतुर्गुणे ।
मण्डं चतुर्दशगुणे पेयां वै षड्गुणेऽम्भसि ॥ ४२ ॥

औषधसिद्ध जलसे यवागू बनाई जाती है, अतः भेषजसिद्धपानीयकल्पनाके अनन्तर

यवागूकल्पना कही जाती है । मण्ड, पेया और विलेपी भेदसे यवागू तीन प्रकारकी होती है । जिस यवागूमें सिक्थ(सिट्ठी)का भाग छोड़ कर केवल ऊपरका द्रव भाग लिया जावे उसको **मण्ड** कहते हैं । जिस यवागूमें द्रवभाग अधिक हो और सिक्थ कम हो उसको **पेया** कहते हैं । जिस यवागूमें सिक्थ अधिक हो और द्रवभाग कम हो उसको **विलेपी** कहते हैं । जिसको यवागू देनी है वह एक समयमें जितना चावल (भात) खाता हो उससे चतुर्थांश चावल उसके लिये यवागू बनानेमें लेना चाहिए । मण्ड बनाना हो तो मोटे पीसे हुए चावलमें १४ गुना औषधसिद्ध जल देकर पकावे । जब चावल अच्छी तरह पक जायँ तब ऊपरका द्रव भाग (मण्ड) निथारकर पीनेको दे । पेया बनानी हो तो मोटे पीसे हुए चावलमें छःगुना औषधसिद्ध जल देकर द्रवांश अधिक रहे और सिक्थ कम रहे इतना पकावे । विलेपी बनानी हो तो मोटे पीसे हुए चावलमें चारगुना औषधसिद्ध जल देकर सिक्थ अधिक रहे और द्रवांश कम रहे इतना पकावे । चावलोंको थोड़े भूंजकर पीछे यवागू बनानेसे यवागू ठीक बनती है ॥ ४०–४२ ॥

वक्तव्य—शिवदाससेनने पेया और विलेपी भेदसे यवागू दो प्रकारकी मानी है । वे दोनों प्रकारकी यवागूके ऊपरके द्रव भागको ही **मण्ड** कहते हैं, 'मण्ड' नामकी स्वतन्त्र कल्पना नहीं मानते (देखें चक्रदत्तचिकित्सा, ज्वराधिकार, श्लोक २८ की टीका) । भातके ऊपरके पानीको भाषामें **माँड** (मण्ड) कहते हैं । उबाले हुए जौके पानीको **यवमण्ड** कहते हैं, इसी प्रकार यवागूके ऊपरके द्रव भागको **मण्ड**[1] कहते हैं । चावलके अतिरिक्त जौ, साँवाँ, गवेधुक (तिनी) आदि अन्य शूकधान्योंके तण्डुलसे भी यवागू बनाई जाती है । औषधसिद्ध जलके अतिरिक्त छाछ, मांसरस, जल आदि द्रवपदार्थोंसे भी यवागू बनती है । सबमें तण्डुलों और द्रव पदार्थोंका प्रमाण ऊपर लिखी हुई परिभाषाके अनुसार लेना चाहिये । यवागूमें घृत, तैल आदि स्नेहद्रव्योंका विधान हो तो उन स्नेहोंमें प्रथम मोटे पीसे हुए तण्डुलोंको सेंक, उनमें द्रव पदार्थ डालकर यवागू बनानी चाहिये । जहाँ यवागूके पाठमें चावल न लिखा हो केवल औषध द्रव्य ही लिखे हों वहाँ परिभाषोक्त प्रमाणमें चावल डालना चाहिए । जहाँ जौ, साँवाँ आदि अन्य तण्डुल पाठमें लिखे हों वहाँ चावल न डालकर वे ही डालने चाहिए । यवागूमें अनारदाना आदि खटाई, चीनी आदि मीठा द्रव्य और लवण डालनेको लिखा हो तो वहाँ वे द्रव्य पीनेवालेकी रुचिके अनुसार डालने चाहिए । **चरक**ने सू. अ. २ में यवागूके २८ योग तथा **काश्यप**ने खिलपर्वके यूषनिर्देशीयाध्यायमें यवागूके २० योग लिखे हैं ।

---

[1] घृतमण्ड, सुरामण्ड आदि शब्दोंका प्रयोग भी प्रसिद्ध है । 'मण्ड' शब्दका सामान्य अर्थ 'ऊपरका निथारा हुआ द्रवांश' है ।

कल्कसाध्ययवागूकल्पना—

कर्षमष्टमिकां वाऽपि कल्कद्रव्यस्य वा पलम् ।
विनीय पाचयेद्युक्त्या वारिप्रस्थेन चापराम् ॥ ४३ ॥

त्रिविधं हि भेषजद्रव्यं वीर्यभेदात् । यथा—तीक्ष्णवीर्यं कणा-शुण्ठ्यादि, मध्यवीर्यं बिल्वाग्निमन्थादि, मृदुवीर्यमामलकादि । अपरामिति अन्याम्; अन्यत्वं च कषायसाध्ययवागूमपेक्ष्य, तेन कल्कसाध्यामित्यर्थः । एवं च तीक्ष्णद्रव्यापेक्षया कर्षप्रमाणं, मध्यवीर्यद्रव्यापेक्षयाऽर्धपलप्रमाणं, मृदुवीर्यद्रव्यापेक्षया च पलप्रमाणं द्रव्यं; विनीय कल्कीकृत्य प्रक्षिप्य, वारिप्रस्थेन साधयेदिति योजना (च. द.) ॥

वीर्यके तारतम्यभेदसे औषधद्रव्य तीक्ष्ण, मध्य और मृदु तीन प्रकारका होता है । कल्कसाध्य यवागू यदि तीक्ष्णवीर्य औषधसे बनानी हो तो १ तोले, मध्यवीर्य औषधसे बनानी हो तो २ तोले और मृदुवीर्य औषधसे बनानी हो तो ४ तोले औषधके सूक्ष्म कपडछान चूर्णको जलमें पीस, कल्क बना, उसमें जिसको यवागू देनी हो वह एक समयमें जितने चावलका भात खाता हो उससे चतुर्थांश मोटे पीसे हुए चावल और ६४ तोला जल देकर मण्ड, पेया या विलेपीमेंसे जिस प्रकारकी यवागू बनानी हो उसके अनुसार पकावे । यह **कल्कसाध्य यवागू** होती है ॥ ४३ ॥

यूषकल्पना—

द्रवैर्बहुविधैर्द्रव्यैस्तथा चान्नैरतण्डुलैः ।
यूष इत्युच्यते सिद्धो, यवागूस्तण्डुलैः सह ॥ ४४ ॥

(काश्यपसंहिता, खिलपर्व अ. ७) ।

कर्षमष्टमिकां वाऽपि कल्कद्रव्यस्य वा पलम् ।
वारिप्रस्थेन विपचेत् स द्रवो यूष उच्यते ॥ ४५ ॥

अत्र शिम्बीधान्यस्य यूषयोनित्वादनुक्तमपि मुद्गादि शिम्बीधान्यं देयम् ।

जल, क्काथ, छाछ आदि द्रव पदार्थ और औषधद्रव्यके साथ मूँग, मसूर, मोठ आदि शिम्बीधान्यको पकाकर जो कल्प तैयार किया जाता है उसको 'यूष' और चावल, साँवाँ, जौ आदि शूकधान्योंको पकाकर जो कल्प तैयार किया जाता है उसको **'यवागू'** कहते हैं । यूष यदि तीक्ष्णवीर्य औषधसे बनाना हो तो १ तोले, मध्यवीर्य औषधसे बनाना हो तो २ तोले और मृदुवीर्य औषधसे बनाना हो तो ४ तोले औषधका कल्क बना, उसमें ४ से ८ तोले तक मूँग आदि शिम्बीधान्य और ६४ तोला जल आदि द्रव पदार्थ डालकर पकावे । आधा या चौथाई जल शेष रहनेपर या मूँग आदि अच्छी तरह पक जाने पर कपड़ेसे छान कर पीनेको दे ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कृताकृतयूषयोः परिभाषा—

अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम् ॥ ४६ ॥
(सु. सू. अ. ४६) ।

कटुकैरिति अत्र 'कटु'शब्दो दधि-दाडिमामलकादीनामम्लद्रव्याणामुपलक्षणम् ।

जिस यूषमें नमक और सोंठ आदि कटु द्रव्य (-मसाला तथा दही-अनारदाना आदि अम्ल द्रव्य) न डाला जावे और स्नेह(घृत या तैल)का छौंक (बघार) दिये विना ही बनाया जावे उसको **अकृतयूष** कहते हैं । जिस यूषमें नमक, कटु द्रव्य (मसाला तथा अम्ल द्रव्य) और स्नेहका छौंक दिया जावे उसको **कृतयूष** कहते हैं । मांसरसके भी इसी प्रकार **कृतरस** और **अकृतरस**- ये दो भेद होते हैं । यवागू और यूष औषधद्रव्यके विना केवल अन्न और जल आदि द्रव पदार्थसे भी बनाये जाते हैं । यवागू और यूष क्वाथके समान जलमें पकाकर बनाये जाते हैं, इसलिये इनकी परिभाषा यहाँ क्वाथके प्रकरणमें लिखी है ॥ ४६ ॥

वाट्य(यव)मण्डकल्पना—

सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत् ।
(शा. म. खं. अ. २) ।

छिलके उतारे हुए जौको थोड़ा भूँजकर १४ गुने जलमें पकावे । जौ सिझ जानेपर ऊपरका जल निथार, कपड़ेसे छान कर पीनेको दे । इसे **वाट्यमण्ड**[1] कहते हैं । जौको सेंके विना ही मण्ड बनाया जावे तो उसको **यवमण्ड**[2] कहते हैं ॥—

लाजमण्डकल्पना—

लाजैस्तु निर्मितो मण्डो लाजमण्डः प्रकीर्तितः ॥ ४७ ॥

धानके लावे(खील)को १४ गुने जलमें लावा सिझ जाय इतना पकाकर कपड़ेसे छान लेनेसे **लाजमण्ड** तैयार होता है ।

वाट्यमण्ड और लाजमण्ड ये दोनों जलमें पकाकर तैयार किये जाते हैं इसलिये इनकी परिभाषा भी यहाँ क्वाथके प्रकरणमें लिखी है । चावलको पकाकर बनाए हुए मंडको **धान्यमण्ड**[3] कहते हैं ॥ ४७ ॥

---

१ माउश्शईर मुहम्मस (अ०); आशे जौ बिरयाँ (फा०) । २ मांउश्शईर (अ०); आशे जौ (फा०); बार्लि वॉटर् Barley water—(अं०) । ३ आशे दकीक, आशे बिरंज (फा०); राइस् ब्रॉथ्—Rice broth, राइस् वॉटर्—Rice water (अं०) ।

शीतकषायः ।

शीतकषायकल्पना—

द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात् ।
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः ॥ ४८ ॥
(च. सू. अ. ४) ।

शीतसलिलाप्लुतस्तु निशापर्युषितः शीतः ।
(अ. सं., क., अ. ८) ।

द्रव्यमर्धपलं क्षुण्णं त्रिभिर्नीरपलैः प्लुतम् ॥ ४९ ॥
निशोषितं हिमः स स्यात्तस्य मात्रा पलोन्मिता ।
सितामधुगुडादींस्तु क्वाथवत् प्रक्षिपेद्भिषक् ॥ ५० ॥

२ तोले औषधके चूर्णको मिट्टी या काँचके पात्रमें १२ तोले गरम या ठंढे जलमें मिला, ढककर रातभर रहने दे । प्रातः हाथसे मसल, कपड़ेसे छानकर उसकी ४-४ तोलेकी मात्रा दिनमें ३ बार करके पीनेको दे । इसको शीत[1] या हिम कषाय कहते हैं । शीतकषायमें मिश्री, शहद, गुड़ आदि प्रक्षेपद्रव्य मिलानेको लिखा हो तो क्वाथमें लिखे हुए प्रमाणके अनुसार मिलावे ॥ ४८–५० ॥

वक्तव्य—शीतकषाय प्रायः शीतवीर्य और सुगन्धित औषधोंसे बनाया जाता है और पित्तप्रशमनके लिये उसका प्रयोग होता है । हिमकल्पना पीनेके लिये तथा शार्कर (शर्बत) आदि अन्य कल्प बनानेके लिये भी बनाई जाती है ।

मन्थकल्पना—

जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत् ।
मृत्पात्रे मन्थयेत् सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत् ॥ ५१ ॥
(शा. मं. ख. अ. ३) ।

कूटे हुए ४ तोले द्रव्यको मिट्टीके बरतनमें डाल, उसमें १६ तोला ठंढा जल मिला, मथानीसे खूब मथकर कपड़ेसे छान ले । इसकी ८ तोलेकी मात्रा दिनमें दो बार करके पीनेको दे ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—मन्थ भी ठंढे जलसे बनाया जाता है इसलिये उसको यहाँ शीत-कषायके प्रकरणमें लिखा है । शीत कषायसे मन्थमें अन्तर यह है कि शीतकषाय औषधद्रव्योंको रातभर जलमें भिगोकर तैयार किया जाता है और मन्थ औषध-द्रव्योंके चूर्णको ठंढे जलमें डाल और उसी समय मथ कर तैयार किया जाता है ।

---

१ नक़ूअ, नकीअ, मन्क़ूअ (अ०); खेसाँदा, खिसाँदा, खेसान्दह (फा०); इन्फ्युझम् Infusum (ले०); कोल्ड इन्फ्युझन्-cold infusion (अं०) ।

शार्ङ्गधरने मन्थको फाण्टका भेद लिखा है—"मन्थोऽपि फाण्टभेदः स्यात्" (शा. म. खं. अ. ३)। फाण्टमें जल गरम डाला जाता है और मन्थमें जल ठंढा डाला जाता है, यह दोनोंमें अन्तर है। यह मन्थकी परिभाषा शार्ङ्गधरने लिखी है, अन्य किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आती। सुश्रुतके मतसे मन्थकी परिभाषा नीचे लिखते हैं—

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः।
नात्यच्छा नातिसान्द्रा वा मन्थ इत्यभिधीयते॥ ५२॥

(सु. सू. अ. ४६)।

सत्तूको थोड़े घीमें मसल, ठंढे जलमें मिला, मथानीसे खूब मथ कर पीनेको दे, इसको **मन्थ** कहते हैं। मन्थ बनानेमें सत्तू और जलका प्रमाण इतना ले कि मन्थ न अति पतला और न अति गाढ़ा बने। मन्थमें चीनी, शहद या गुड़ मिलाना हो तो वह पीनेवालेकी रुचिके अनुसार मिलावे॥ ५२॥

वक्तव्य—चरकने संतर्पणीयाध्याय(सू. अ. २३)में मन्थके कई योग लिखे हैं। उन योगोंको **मन्थ**, **तर्पण** या **संतर्पण** नाम दिया है। यह कल्प मथकर तैयार किया जाता है इस लिये इसको **मन्थ** और शीघ्र तर्पण करता है इसलिये इसको **तर्पण** कहते हैं। सब प्रकारके मन्थोंमें जौ या लाज़ाका सत्तू प्रधान द्रव्य होता है।

तक्रकल्पना—

मन्थनेन पृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत्।
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे॥ ५३॥

(सु. सू. अ. ४५)।

दहीमें आधा जल मिला, मथानीसे मथ कर मक्खन निकाली हुई मधुर, अम्ल और कषाय रसवाली तथा अति गाढ़ी या अति पतली नहीं ऐसी छाछको **तक्र** कहते हैं॥ ५३॥

घोलकल्पना—

यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते।

दहीमें जल दिये बिना और मक्खन निकाले बिना बनाए हुए कल्पको **घोल** कहते हैं।

वक्तव्य—यदि दहीमें आधा जल डाल कर मथ लिया जावे परन्तु मक्खन न निकाला जावे तो उसको **उदश्वित्** कहते हैं। दहीके ऊपरके निथारे हुए जलको **मस्तु** कहते हैं। गरम किये हुए दूधमें दही, नीमूका रस आदि अम्ल पदार्थ डाल, दूधको फाड़, कपड़ेमें बाँधकर जो गाढ़ा पदार्थ लिया जावे उसको **आमिक्षा** (बंगालीमें **छाना** और हिंदीमें **छेना** या **पनीर**) कहते हैं। फाड़े हुए दूधसे पनीर अलग करके बचा हुआ जल रोगीको पथ्यके तौर पर दिया जाता है। इसको जेज्जटने **मोरट** नाम दिया है–"जेज्जटस्तु विनष्टक्षीरभवं मस्तु **मोरट**मित्याह" (**डल्हण**)।

फटे हुए दूधके जलांशको भी सामान्यतः मस्तु कहते हैं। तक्र भी ठंढा जल मिला और मथकर बनाया जाता है इसलिये मन्थके पीछे तक्रकी कल्पना लिखी है।—

तण्डुलोदककल्पना—

कण्डितं तण्डुलपलं जलेऽष्टगुणिते क्षिपेत् ॥ ५४ ॥
भावयित्वा जलं ग्राह्यं तण्डुलोदकमुच्यते।

४ तोले चावलको जलसे धो, मिट्टीके बरतनमें ८ गुने जलमें ३-६ घंटा भिगोकर कपड़ेसे छानले। इसे तण्डुलोदक[1] कहते हैं। तण्डुलोदक चावलको ठंढे जलमें भिगोकर बनाया जाता है इसलिये इसको शीतकषायके प्रकरणमें लिखा है ॥ ५४ ॥—

वक्तव्य—तण्डुलोदकका प्रयोग प्रायः संग्राहक औषधोंके अनुपानके रूपमें होता है।

पानककल्पना—

फलमम्लमनम्लं वा शीताम्बुपरिमर्दितम् ॥ ५५ ॥
सितामरिचसंमिश्रं पूतं स्यात् पानकं वरम्[2]।

आम, फालसा, इमली, मुनक्का, पिण्डखजूर आदिके अधपके खट्टे या पके हुए मीठे फलोंको १६ गुने ठंढे जलमें हाथसे खूब मसलकर कपड़ेसे छान ले। पीछे उसमें पीनेवालेकी रुचिके अनुसार मिश्री और काली मिर्चका चूर्ण मिलावे, इसको पानक[3] कहते हैं। पानकमें इलायची-लौंग आदि अन्य सुगन्धि द्रव्योंका चूर्ण तथा जलमें पीसा हुआ केसर भी मिलाते हैं। पानक ठंढे जलमें फलोंको मिलाकर बनाया जाता है इसलिये पानककी परिभाषा यहाँ शीतकषायके प्रकरणमें लिखी है ॥ ५५ ॥—

वक्तव्य—जलमें केवल शक्कर या गुड और सुगन्धि द्रव्योंका चूर्ण मिलाकर भी पानक बनाते हैं, जलमें नीमू आदि खट्टे फलोंका रस और शक्कर मिलाकर भी पानक बनाया जाता है।

शार्करकल्पना—

हिमे फाण्टे शृतेऽर्के वा शर्करां द्विगुणां क्षिपेत् ॥ ५६ ॥
मन्देऽग्नौ साधितं पूतं पटात्तच्छार्करं स्मृतम् ॥

गुलाब, केवड़ा, बेदमुश्क आदि सुगन्धि द्रव्योंके अर्कमें तथा अन्य द्रव्योंके हिम,

---

१ आबे बिरंज (फा०)। २ "गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम्। तदेव खण्डमृद्वीकाशर्करासहितं पुनः ॥ साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम्। मार्द्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम्। परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ॥" (सु. सू. अ. ४६)। ३ शर्बत (अ०)।

फाण्ट या क्वाथमें (तथा अनार, नीबू आदि फलोंके रसमें) दूनी चीनी मिला, मन्दी आँच पर पकाकर ठंडा होनेपर कपड़ेसे छान ले। इसको शार्कर (शर्बत)[1] कहते हैं। शार्करकी चाशनी शहद जैसी बनानी चाहिए। फलोंके रसों और सुगन्धि द्रव्योंके अर्कोंको चीनीकी ठंडी होनेपर जम जाय ऐसी चाशनी बनाकर उसमें मिलानेसे शार्कर अच्छा बनता है ॥ ५६ ॥—

अर्ककल्पना—

गुलाब, केवड़ा, बेदमुश्क आदिके सुगन्धि पुष्प तथा खस, सौंफ, चन्दन, पोदीना, अनन्तमूल आदि अन्य सुगन्धि द्रव्योंका वीर्य उनमें रहे हुए सुगन्धि तैल(इत्र)में होता है। उनका क्वाथ करनेसे उनका वीर्य-इत्र बाष्पके साथ उड़ जानेसे क्वाथमें उनके गुण नहीं आते, अतः उनका स्वरस, कल्क, चूर्ण, फाण्ट अथवा हिम बनाकर देनेका आयुर्वेदमें उपदेश पाया जाता है। यूनानी हकीम उनसे अर्क निकालते हैं। यह कल्पना अच्छी है। क्योंकि चूर्णके अतिरिक्त स्वरस, फाण्ट या हिम अधिक समय टिक नहीं सकता; परन्तु अर्क अधिक समय टिकता है।

अर्क निकालनेकी विधि—जिन द्रव्योंका अर्क निकालना हो वे यदि ताजे–गीले हों तो वैसे ही और सूखे हों तो उनका दरदरा चूर्ण करके रातको दशगुने जलमें भिगो दे। सवेरमें उसको भबकेमें डाल, भबकेके दोनों पात्रोंकी संधिमें अच्छी तरह कपड़मिट्टी कर अग्निपर चढ़ावे। भबकेके ऊपरके पात्रमें ठँढा जल भर दे। जल जैसे जैसे गरम होता जाय वैसे उसे निकाल कर दूसरा ठंढा जल छोड़ता रहे। जितना जल डाला हो उससे आधा अर्क खींचना चाहिये। अन्तमें सारे अर्कको कपड़ेसे छान, शीशियोंमें भरकर बन्द कर दे। भबका ताँबे या पीतलका भीतर अच्छी तरह कलई किया हुआ होना चाहिये। अर्क अकेला पीनेको दिया जाता है या चूर्ण, लेह आदि अन्य कल्पोंके अनुपानरूपमें दिया जाता है[2]।

फाण्टकषायः।

फाण्टकल्पना—

क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत् फाण्टमभिधीयते ॥ ५७ ॥

(च. सू. अ. ४)।

---

१ शर्बत (अ०); सिरपस्—Syrupus (ले०); सिरप् Syrup (अं०)। सिरका और शहदसे बनाए हुए शार्करको यूनानी वैद्यकमें 'सिकञ्जबीन' कहते हैं। खशखाशसे बनाये हुए शर्बतको यूनानी वैद्यकमें दियाकूजा कहते हैं। २ माअ, अर्क (अ०); एक्वा—Aqua (ले०); डिस्टिल्ड् वॉटर्—Distilled water (अं०)।

क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत् ।
मृत्पात्रे कुडवोन्मानं मृदित्वा स्रावयेत् पटात् ॥ ५८ ॥
स स्याच्चूर्णद्रवः फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मितम् ।
सितामधुगुडादींश्च क्वाथवत् प्रक्षिपेद्भिषक् ॥ ५९ ॥
(शा. म. खं. अ. ३) ।

मिट्टीके पात्रमें ४ तोला औषधका चूर्ण और १६ तोला उबलता हुआ जल मिला, ढककर थोड़ी देर रहने दे । जब जल ठंढा हो जाय तब हाथसे मसलकर कपड़ेसे छान ले । इसको **फाण्ट** और **चूर्णद्रव** कहते हैं । इसकी ४ से ८ तोले तककी मात्रा पीनेको दे । फाण्टमें मिश्री, शहद, गुड़ आदि मिलानेको लिखा हो तो क्वाथमें लिखे हुए प्रमाणके अनुसार मिलावे । यहाँ द्रव्यका प्रमाण ४ तोला लिखा है वह मृदुवीर्य द्रव्यके लिये जानना चाहिये । मध्यवीर्य द्रव्यका २ तोला और तीक्ष्णवीर्य औषधका १ तोला चूर्ण लेना उचित है ॥ ५७-५९ ॥

रसक्रिया (अवलेहः) ।

रसक्रियाकल्पना—

काथादीनां पुनः पाकाद्घनत्वं सा रसक्रिया ।
सोऽवलेहश्च लेहश्च तन्मात्रा कर्षसंमिता ॥ ६० ॥
लेहस्य तन्तुमत्ताऽप्सु मज्जनं सरणं न च ।
अङ्गुल्या पीडिते मुद्रा गन्धवर्णरसोद्भवः ॥ ६१ ॥

विधिवत्कृते कषाये द्रव्यापेक्षया षोडशगुणोदकेऽष्टभागावशिष्टे, अष्टगुणोदके चतुर्भागावशिष्टे वा, पूतं कषायं पुनस्तावत् पचेत् यावत् फाणिताकृतिः (डल्हण सु. सू. अ. ३७, श्लो. २१; तथा सु. चि. अ. १, श्लो. ५९ की टीकामें) ।

क्वाथ, स्वरस आदिको मन्द अग्निपर पकाकर गाढ़ा कर लिया जावे तो उसको **रसक्रिया**, **अवलेह** या **लेह** कहते हैं । अवलेह जब अच्छी तरह तैयार हो जाता है तब वह करछी या कूँचेसे उठानेपर तार बाँधकर उठता है, थोड़ा ठंढाकर जलमें गेरनेसे जलमें डूबकर एक जगह रह जाता है-बिखरता-फैलता नहीं, ठंढा होनेपर अंगुलीसे दबानेपर उसमें अंगुलीके निशान पड़ जाते हैं और जिस द्रव्यकी रसक्रिया बनाई हो उसका गन्ध, वर्ण और रस उसमें आजाते हैं ॥ ६० ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—शार्ङ्गधरने रसक्रियाके **अवलेह** और **लेह** दो पर्याय लिखे हैं । डल्हणने रसक्रिया फाणित(राब)जैसी बनानी चाहिये ऐसा लिखा है । अवलेह फाणितसे

---

१ मन्क़ूअ, नक़ूअ, नकीअ (अ०); खेसाँदा, खिसाँदा, खेसान्दह (फा०); इन्फ्युझम्-Infusum (ले०); इन्फ्युझन्—Infusion (अं०) ।

गाढ़ा होता है। जो रसक्रिया राबके जैसी नरम हो उसको फाणित, उससे थोड़ी गाढ़ी चाटने योग्य हो उसको अवलेह[2] या लेह और उससे भी गाढ़ी गोली बनने योग्य हो उसको घन[3] कहनेकी वैद्योंमें प्रथा है, वह ठीक है। घन बनानेके लिये रसक्रिया अवलेह जैसी बननेपर उसको अग्निपरसे उतार, थालीमें फैला, धूपमें सुखाकर गोली बनै सके इतनी गाढ़ी कर लेनी चाहिये। द्रवांश कम होनेके बाद उसको अग्निपर रखनेसे औषधका वीर्य कम हो जाता है। ऊपर अवलेहके सम्यक्पाकके जो लक्षण लिखे हैं उनके दिखने पर अवलेहको अग्निपरसे उतार लेना चाहिये।

अवलेह दो प्रकारसे बनाया जाता है। पहलेमें स्वरस या क्वाथको अग्निपर पकाकर गाढ़ा कर लिया जाता है और बादमें उसमें चूर्णका प्रक्षेप लिखा हो तो चूर्ण मिलाया जाता है। दूसरे प्रकारमें गुड़ या चीनीकी पानीमें अवलेह जैसी चाशनी बनाकर पीछे उसमें औषधद्रव्योंका चूर्ण मिलाया जाता है। पहले प्रकारके अवलेहकी कल्पना ऊपर लिखी है। दूसरे प्रकारके अवलेहकी कल्पना नीचे लिखते हैं—

---

१ उसारा, उसारह, रुब्ब, खुलासा (अ०); एक्स्ट्रॅक्टम् लिक्विडम्—Extractum Liquidum (लॅ०); लिक्विड एक्स्ट्रॅक्ट्—Liquid extract (अं०)।

२ अंगरेजीमें चीनी या मधुयुक्त अवलेहको कन्फेक्शन Confection कहते हैं। यूनानीवैद्यकमें अवलेहके कई भेद माने गये हैं। औषधद्रव्योंके सूक्ष्म कपड़छान चूर्णको शहदकी चाशनीमें मिलाकर बनाए हुए अवलेहको माजून कहते हैं। जो अवलेह गलेके सूखापनको दूर करके कफ निकाले तथा फुफ्फुस और कण्ठके रोगोंमें प्रयुक्त किया जावे उसको लऊक कहते हैं। लऊककी चाशनी शर्बतसे गाढ़ी और माजूनसे पतली रखी जाती है। पाचनशक्ति बढ़ानेवाले स्वादिष्ट अवलेहको ज(जु)वारिश कहते हैं। औषधद्रव्योंके क्वाथमें शक्कर मिला, पकाकर इतना गाढ़ा कर लिया जावे कि वह चाटा जा सके, पीछे उसमें अन्य द्रव्योंका चूर्ण, वरक आदि मिलाकर लकड़ीके घोटनेसे इतना घोटें कि चाशनीका रंग श्वेत या श्वेताभ (सफेदीमायल) हो जाय उसको खमीरह (खमीरा) कहते हैं। बादाम, पिस्ता आदिके मग्जों और शक्तिवर्धक औषधोंसे बनाये हुए अवलेहको लुबूब कहते हैं। मुख्यतः आँवले तथा अन्य पाचक औषधोंसे बनाये हुए पाचक अवलेहको नोशदारु कहते हैं। अन्य औषधोंके साथ अधिक प्रमाणमें त्रिफला मिलाकर बनाए हुए अवलेहको अतरीफल या अत्रीफल कहते हैं। जिस अवलेहमें अंबर, कस्तूरी आदि बहुमूल्य उपादान तथा रत्न विशेषतः याकूत (मानिक) पड़ता हो उसको याकूती कहते हैं। मनःप्रसादकर द्रव्योंसे बनाए हुए अवलेहको मुफर्रह कहते हैं।

३ घन-रसक्रिया—उसारह, उसारा, रुब्ब (अ०); Solid Extract–सॉलिड एक्स्ट्रॅक्ट, Concentrated extract–कॉन्सेन्ट्रेटेड एक्स्ट्रॅक्ट (अं०)।

अवलेहार्थं शर्करा-गुडपाककल्पना—

सिता चतुर्गुणा ग्राह्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः।
द्रवेणालोड्य विपचेल्लक्षयन् पाकलक्षणम् ॥ ६२ ॥
तोयपूर्णे यदा पात्रे क्षिप्तो न प्लवते गुडः।
क्षिप्तस्तु निश्चलस्तिष्ठेत् पतितस्तु न शीर्यते ॥ ६३ ॥
एष पाको गुडादीनां सर्वेषां संप्रकीर्तितः।

चीनी या गुड़की चाशनीमें चूर्ण मिलाकर जो अवलेह बनाया जाता है उसमें चीनी चूर्णसे चारगुनी और गुड़ चूर्णसे दूना लेना चाहिये । कलईदार बरतनमें चीनी या गुड़ डालकर उसमें इतना जल डाले कि जल गरम होनेपर चीनी या गुड़ उसमें अच्छी तरह घुल जाय । पीछे पात्रको अग्निपर चढ़ाकर खों(कौं)चेसे चाशनीको हिलाता रहे । चाशनी तैयार होनेको आवे तो उसको जलमें गेरकर परीक्षा करें । जब चाशनी जलमें गेरनेसे नीचे बैठ जाय-ऊपर तैरे नहीं, जलमें निश्चल पड़ी रहे-बिखर न जाय (और ठंढी होनेपर अवलेह जैसी रहे) तब चाशनी तैयार हो गई है ऐसा समझ, नीचे उतारकर उसमें चूर्ण मिलावे ॥ ६२ ॥ ६३ ॥—

चीनी और गुड़में कुछ मैलका अंश रहता है । चाशनी बनाते हुए उसको निकाल देना आवश्यक है । चाशनी जब उबलने लगे तब उसमें थोड़ा दूध डालकर हिलानेसे मैल चाशनीके ऊपर आ जाता है, उसको कूँचेसे निकाल दे । ऐसा दो तीन बार करनेसे सारा मैल निकल कर चाशनी स्वच्छ हो जाती है ।

अवलेहे चूर्णप्रक्षेपसमयः—

प्रायो न पाकश्चूर्णानां भूरिचूर्णस्य तेन हि ॥ ६४ ॥
आसन्नपाके प्रक्षेपः स्वल्पस्य पाकमागते ॥

चूर्णका प्रायः अग्निपर पाक नहीं किया जाता, इसलिये चाशनीमें अधिक चूर्ण मिलाना हो तो पाक करीब करीब हो जानेपर नीचे उतार, चूर्ण थोड़ा थोड़ा डाल, कूँचेसे चलाकर मिला दे । यदि थोड़ा चूर्ण डालना हो तो पाक हो जानेपर चाशनीको नीचे उतारकर, थोड़ी ठंढी होनेपर उसमें चूर्ण मिलादे । चूर्ण डालते समय चाशनीमें द्रवांश इतना रहना चाहिये कि जिसमें सारा चूर्ण समा सके । अवलेहमें शहद मिलाना हो तो अवलेह ठंढा होनेपर मिलावे । केवल शहदसे अवलेह बनाना हो तो शहदको मिट्टीके या पीतलके कलईदार पात्रमें मंद अग्निपर चढ़ाकर इतना गरम करे कि शहद पतला हो जाय । पीछे नीचे उतार, ठंढा होनेपर ऊपरका फेन चम्मचसे उतार, कपड़ेसे छानकर उसमें चूर्ण मिलावे ॥ ६४ ॥—

लेहमात्रा—

लेहस्य मध्यमा मात्रा कर्षमाना प्रकीर्तिता ॥ ६५ ॥

अवलेहकी मध्यम मात्रा एक तोलेकी है ॥ ६५ ॥

लेहानामनुपानम्—

दुग्धं यूषः कषायश्च जलं फलरसस्तथा ।
लेहानामनुपानार्थं यथाव्याधि प्रशस्यते ॥ ६६ ॥

व्याधिके अनुसार दूध, यूष, क्वाथ, अर्क, जल या फलोंका रस लेहके अनुपानरूपमें दे। रसक्रिया(फाणित)को जल आदि द्रव पदार्थमें मिलाकर देना चाहिये ॥ ६६ ॥

गुटिका ।

गुटिकाकल्पना—

वटिकाश्चाथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी ।
मोदको वटिका पिण्डी गुडो वर्तिस्तथोच्यते ॥ ६७ ॥
लेहवत् साध्यते वह्नौ गुडो वा शर्कराऽथवा ।
गुग्गुलुर्वा क्षिपेत्तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी ॥ ६८ ॥
कुर्वन्त्यवह्निसिद्धेन केचिद्गुग्गुलुना वटीम् ।
द्रवेण मधुना वाऽपि गुटिकां कारयेद्बुधः ॥ ६९ ॥

अब वटिकाओं-गोलियों-के बनानेका विधान कहा जाता है । गोलियोंको **गुटिका**, **वटी**, **मोदक**, **वटिका**, **पिण्डी**, **गुड** और **वर्ति** कहते हैं । गुड, शक्कर या गूगल जिसमें गोली बनानी हो उसको अग्निपर लेहकी तरह पका, उसमें चूर्ण मिलाकर गोलियाँ बनावे । कई लोग गूगलको अग्निपर पकाये बिना ही उसमें चूर्ण मिलाकर गोलियां बनाते हैं । अथवा जल, स्वरस आदि किसी द्रव पदार्थ या शहद, (शर्बत, लुआब, गोंद, गुलकंद) आदिमें चूर्णको घोटकर गोली बनावे । गूगलको बिना पकाये ही गोली बनाना हो तो गूगलके बड़े स्वच्छ टुकड़ोंको इमामदस्तेमें थोड़ा घी लगा, उसमें डालकर खूब कूटे । कूटते कूटते जब गूगल नरम हो जाय तब उसमें थोड़ा थोड़ा चूर्ण मिलाता जावे और कूटता जावे । जब सारा चूर्ण अच्छी तरह मिल जाय तब उसकी गोलियाँ बना ले ॥ ६७-६९ ॥

वक्तव्य—जो द्रव्य अप्रिय गन्ध और स्वादवाले हों उनको सरलतासे गलेसे नीचे उतारनेके लिये, औषध द्रव्य पेटमें जाकर धीरे धीरे पेटमें गलकर अपना कार्य करे इसलिये तथा औषधोंका चूर्ण चिरकाल तक न बिगड़े और हीन वीर्य न हो इस उद्देश्यसे गोली बनाई जाती है । कस्तूरी, अंबर, कपूर आदि सुगन्धि द्रव्य चूर्णरूपमें रहें तो उड़ जाते हैं, अतः वे न उड़ने पावें इसलिये उन द्रव्योंवाले योगोंकी गोली बनाई जाती है । गोली उतनी बड़ी बनानी चाहिये जिसको सरलतासे निगला जा सके ।

---

१ गोली (हिं०); हब्ब, हब्बूब (अ०); Pilula-पिल्युला (ले०); Pill-पिल (अं०) । टिकड़ी, टिकिया (हिं०); कुर्स (अ०); Tablet-टॅब्लेट (अं०) ।

गोली जल, अर्क, दूध, छाछ, फलोंका रस आदि द्रव पदार्थके अनुपानसे निगलाई जाती है । गोली बनानेके लिये चूर्ण खूब महीन (अति सूक्ष्म) कपड़ेसे छाना हुआ होना चाहिये और द्रव पदार्थमें घुटाई अच्छी होनी चाहिये तो गोली सरलतासे और अच्छी बनेगी ।

गुटिकासु प्रदेयशर्करादिमानम्—

सिता चतुर्गुणा देया वटीषु द्विगुणो गुडः ।
चूर्णाच्चूर्णसमः कार्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम् ॥ ७० ॥
तावन्मात्रो द्रवो देयो यावता वटिका भवेत् ।
कर्षप्रमाणां तन्मात्रां बलं दृष्ट्वा प्रयोजयेत् ॥ ७१ ॥

गोली बनानेमें चूर्णसे शक्कर चौगुनी लेनी चाहिये, गुड़ चूर्णसे दूना लेना चाहिये, गूगल और शहद चूर्णके बराबर लेना चाहिये, जल, स्वरस आदि द्रव जितनेमें चूर्ण अच्छी तरहसे मर्दन किया जा सके इतने देने चाहिये । देह, व्याधि आदिके बलका विचार कर एक दिनमें अधिकसे अधिक एक तोलेभरकी गोलीकी मात्रा देवे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

फलवर्तिकल्पना—

घृताभ्यक्ता गुदे क्षेप्या श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा ।
मलप्रवर्तिनी वर्तिः फलवर्तिस्तु सा स्मृता ॥ ७२ ॥

दस्त लानेके लिये हाथके अंगूठे जितनी मोटी और चिकनी वर्ति बना, उसपर घी लगाकर गुदामें चढ़ावे, इसको **फलवर्ति** कहते हैं ॥ ७२ ॥

वक्तव्य—जो गोली लम्बी बनाई जावे उसको **वर्ति** (**बत्ती**) कहते हैं[1] । गुदा, योनि और शिश्नमें चढ़ानेके लिये जो वर्ति बनाई जाती है उसको आयुर्वेदमें **फलवर्ति** कहते हैं[2] । फलवर्तिका उपयोग उदावर्तमें मल और वायुके अनुलोमनार्थ गुदामें चढ़ानेके लिये, तथा उत्तरबस्ति देनेके पीछे स्नेह अपने समयपर वापस न आजाय तो गुदा और योनि या शिश्नमें चढ़ानेके लिये किया जाता है । गुदामें चढ़ानेके लिये फलवर्ति हाथके अँगूठे जितनी मोटी बनानेको लिखा है । योनिमार्ग और मूत्रनलीमें चढ़ानेके लिये उत्तरबस्तियन्त्रकी नली जितनी मोटी और लम्बी बत्ती बनानी चाहिये । फलवर्ति गुड़की पक्की चाशनी बना, उसमें औषध द्रव्योंका चूर्ण

---

१ बत्ती (हिं०); शाफा (एकवचन), शियाफ (बहुवचन) (अ०, फा०) । २ फलवर्ति (मलद्वारमें रखनेके लिये) हमूल (अ०); Rectal suppository–रेक्टल सपोझिटरी (अं०); फलवर्ति (योनिमें रखनेके लिये) फिर्जजह (अ०); Vaginal suppository–वॅजाइनल सपोझिटरी, Pessary–पेसरी (अं०); फलवर्ति (शिश्नमें रखनेके लिये) Urethral bougie यूरिथ्रल बूजी (अं०) ।

मिलाकर बनाई जाती है । इसमें गुड़ इतना डालना चाहिये जिसमें वर्ति ठीक बन सके "गुडेनेति वचनेन यावता गुडेन वर्तिः कर्तुं युज्यते तावन्मानो गुडो देयः"; "इयं च वर्तिर्गुडपाकेन कठिना कर्तव्या यथा श्लक्ष्णा भवति" (च. द.)। फलवर्तिके विषयमें विशेष बातें चरक चि. अ. २६, श्लो. ११-१४; सि. अ. ९, श्लो. ५८-६१; तथा सुश्रुत चि. अ. ३७, श्लो. ११८-१२२; और उ. तं. अ. ५५, श्लो. ५२-५३ में देखें। नेत्रमें अञ्जन करनेके लिये नेत्रवर्ति सामान्य गुटिकाकी परिभाषासे बनाई जाती है ॥ ७१ ॥

धूमवर्तिकल्पना—

धूमवर्त्युक्तद्रव्याणां सूक्ष्मं चूर्णं जलेन वै ।
पिष्ट्वा लिम्पेच्छरेषीकां तां वर्तिं यवसन्निभाम् ॥
अङ्गुष्ठसंमितां कुर्यादष्टाङ्गुलसमां भिषक् ।
शुष्कां विगर्भां तां वर्तिं धूमनेत्रार्पितां नरः ॥
स्नेहाक्तामग्निसंप्लुष्टां पिबेत् प्रायोगिकीं सुखाम् ।

प्रायोगिकी, स्नैहिकी और वैरेचनिकी ऐसी तीन प्रकारकी धूमवर्ती बनती है । जिस प्रकारकी धूमवर्ती बनानी हो उसके ग्रन्थोंमें लिखे हुए द्रव्योंका सूक्ष्म कपड़छीन चूर्ण बना, उसको जलमें महीन पीस, कल्क बनाकर उसको जलमें भिगोई हुई एक सरकंडेकी मजबूत सलाईपर लेप करे । लेप अँगूठे जितना मोटा, जौके समान मध्यमें स्थूल और दोनों सिरेमें सँकरा, आठ अंगुल लंबाईमें करे । लेप सूखने पर सरकंडेके बीचकी सलाईको सावधानीसे निकाल ले । इससे यह वर्ती बीचमेंसे नलीके जैसी पोली बन जायगी । पीछे इस वर्तीपर घी लगा, उसको धूमनेत्रमें रख, दियासलाईसे जलाकर धूमपान करे ।

तीनों प्रकारकी धूमवर्तीके द्रव्य चरक सूत्रस्थान अध्याय ५ में लिखे हैं ।

सन्धानवर्गः ।

सन्धानलक्षणम्—

केवलं द्रवद्रव्यं वा भेषजान्नादिसंयुतम् ।
चिरकालस्थितं वैद्यैः सन्धानं परिकीर्तितम् ॥ ७२ ॥
तस्य भेदद्वयं प्रोक्तं मद्यं शुक्तं तथैव च ।

गन्नेका रस, क्वाथ आदि द्रव पदार्थ अकेला या औषधद्रव्य, अन्न, गुड़, किण्व आदिके साथ मिलाकर कुछ समय रख दिया जावे उसको सन्धान कहते है । संधानके मद्य और शुक्त ये दो मुख्य भेद हैं ॥ ७२ ॥—

वक्तव्य—'सन्धान' शब्दका प्रयोग सन्धानक्रिया[1] और सन्धानक्रियासे उत्पन्न विविध प्रकारके मद्य और शुक्त दोनोंके लिये होता है। सन्धानके मुख्य दो भेद या वर्ग हैं-**मद्यवर्ग** और **शुक्तवर्ग**। शीधु, वारुणी, अरिष्ट-आसव, सुरा आदि मद्यवर्गके और तुषोदक, सौवीर, काञ्जिक आदि शुक्तवर्गके सन्धान हैं। जो मादक पेय तैयार किये जाते हैं उनको **मद्य**[2] कहते हैं-**"पेयं यन्मादकं लोकैस्तन्मद्यमभिधीयते"** (**योगमहोदधि**-सन्धानवर्ग)। शुक्तवर्गका विशेष विवरण शुक्तके प्रकरणमें देखें।

शी(सी)धुकल्पना—

> **ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवैः ॥ ७३ ॥**
> **सिद्धः पक्वरसः सीधुः संपक्वमधुरद्रवैः ।**

गन्नेके रस आदि मीठे द्रवपदार्थोंको अग्निपर पकाये बिना ही सन्धान करके जो मद्य तैयार किया जावे उसको **शीतरस सीधु** कहते हैं और उनको (गन्नेके रस आदि मीठे द्रव पदार्थोंको) अग्निपर पकानेके पीछे उनका सन्धान करके जो मद्य तैयार किया जावे उसको **पक्वरस सीधु** कहते हैं ॥ ७३ ॥—

वारुणीकल्पना—

> **या तालखर्जूररसैरासुता सा हि वारुणी ॥ ७४ ॥**

ताल, खजूर और नारियलके वृक्षसे निकाले हुए रसैं[3]का सन्धान करके जो मद्य तैयार किया जावे उसको **वारुणी** कहते हैं ॥ ७४ ॥

सुराकल्पना—

> **परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः ।**
> **सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात्, ततः कादम्बरी घना ॥ ७५ ॥**
> **तदधो जगलो ज्ञेयो, मेदको जगलाद्घनः ।**
> **बक्कसो हृतसारः स्यात्, सुराबीजं च किण्वकम् ॥ ७६ ॥**

चावल, यव आदि अन्नको पका, उसमें जल और किण्व मिलाकर सन्धान करनेसे जो मद्य तैयार होता है उसको **सुरा** कहते हैं। सुराके ऊपरके स्वच्छ द्रवभागको **प्रसन्ना**, उससे कुछ गाढ़े भागको **कादम्बरी**, कादम्बरीके नीचेके गाढ़े भागको **जगल** और जगलसे भी नीचेके गाढ़े भागको **मेदक** कहते हैं। सुराको कपड़ेसे छान लेने पर जो

---

१ तख्मीर् (अ०); फर्मेन्टेशन् Fermentation (अं०)। २ खम्र, शराब (अ०); स्पिरिट्, वाइन्—Spirit, wine (अं०)। ३ ताड़, खजूर या नारियलके वृक्षके ऊपरके भागमें छेद कर, छेदमें ताड़ आदिकी पत्ती दे, नीचे मिट्टीका घड़ा बाँधकर उसमें लिया हुआ रस, जिसको ताड़ी (नीरा) कहते हैं।

सार(द्रव)हीन भाग रहता है उसको **बक्कस** कहते हैं । मद्यमें खमीर उठानेके लिये इसका प्रयोग किया जाता है। इसको **सुराबीज** या **किण्व** भी कहते हैं ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

वक्तव्य—आसवमें नीचे जो गाद बैठता (रहता) है वह दूसरा आसव बनानेमें किण्वका काम देता है । उसको दूसरे आसवका सन्धान करते समय उसमें थोड़ा मिला देना चाहिये । आढमल्ल चावलके आटेसे किण्व बनानेको कहते हैं—"शालिपिष्ट-प्रभवं किण्वकमिति कथितम्" । ऊपर सीधु, वारुणी और सुरा ये जो मद्यके तीन भेद लिखे हैं उनको उनमें खमीर उठकर बैठते ही १–२ दिनमें छान, शीशियोंमें भर, उनमें वायुका प्रवेश न हो इस प्रकार शीशीका मुँह बन्द करके रखना चाहिये । वारुणीको चिरकाल रखना हो तो उसमें चतुर्थांश मीठा मिलाकर खमीर उठाना चाहिये और बोतलोंमें भरते समय चतुर्थांश मीठा और मिलाना चाहिये । अन्यथा वह खट्टी हो जायगी । इन तीनोंको खमीर उठनेके बाद भबकेमें खींचकर मद्य तैयार किया जाय तो वह चिरस्थायी होता है । आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें भबकेसे मद्य खींचनेका विधान देखनेमें नहीं आता । परन्तु मद्यके पर्यायोंमें 'परिस्रुता' एक शब्द पाया जाता है । महाभारतके विराट् पर्वमें "सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिस्रुताम्"[1] यहाँ सुराको 'सुपरिस्रुता' यह विशेषण दिया हुआ है । इससे मालूम होता है कि प्राचीन समयमें भबकेसे मद्य खींचकर परिस्रुत सुरा भी बनाई जाती थी । राज्यसे अधिकार प्राप्त किये बिना मद्यका निर्माण करना आजकल सर्वसाधारणके लिये कानूनसे निषिद्ध है । जिनमें प्रतिशत १० से अधिक मद्यसार (अल्कोहल) न बना हो ऐसे आसव–अरिष्ट बनाना कानूनसे निषिद्ध नहीं है । मद्योंके सब प्रकारोंमें अरिष्ट ही चिकित्सामें विशेष उपयुक्त होते हैं और मादक नहीं हैं । अतः वैद्योंको अरिष्ट–आसव ही बनानने चाहिये । मृतसञ्जीवनी सुरा आदि योग बिना राजाज्ञा प्राप्त किये नहीं बनाना चाहिये ।

अरिष्टकल्पना—

काथादौ भेषजद्रव्यं शर्करां मधु वा गुडम् ।
सम्यगासवनिष्पत्त्यै किञ्चित् किण्वं तथैव च ॥ ७७ ॥
सन्धाय स्थापयेज्जातरसं वस्त्रपरिस्रुतम् ।
मांसीमरिचलौहैस्तु प्रलिप्ते धूपितेऽथवा ॥ ७८ ॥
शुचौ भाण्डे मुखं रुद्ध्वा स्थापितं भेषजोचितम् ।
आसवारिष्टसंज्ञं तं कल्पमाहुश्चिकित्सकाः ॥ ७९ ॥
अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः ।

क्काथ, स्वरस, जल आदि द्रव पदार्थोंमें औषधद्रव्योंका चूर्ण, शक्कर (चीनी), गुड़ या शहद और आसव ठीक उठनेके लिये थोड़ा किण्व (सुराबीज) मिला,

---

१ भाण्डारकरप्राच्यसंशोधनमन्दिरका महाभारतसंस्करण वि. प. अ. १४, श्लो. ७।

अन्दरसे अच्छी तरह घी लगाये हुए मिट्टीके घड़ेमें, चीनी मिट्टीकी बरनीमें या सागौन-(सागवान)की लकड़ीके पीपे(ढोल)में डाल, उसके मुँहपर कपड़ा बाँधकर ठंढे स्थानमें रख दे। बीच बीचमें कपड़ा खोलकर देखता रहे कि खमीर उठ रहा है या नहीं। जब उसमें खमीर उठना बंद हो जाय और प्रक्षेप द्रव्य नीचे बैठ जायँ उस समय उसको कपड़ेसे छानकर जटामांसी, कालीमिर्च और अगरका लेप या धूप दिये हुए पात्र(चीनी मिट्टीकी पेचदार ढक्कनवाली बरनी या सागौनकी लकड़ीके पीपे)में भरकर उसमें वायुका प्रवेश न हो इसप्रकार बंद कर दे। औषधोपयुक्त[1] इस कल्पको **आसव** या **अरिष्ट**[2] कहते हैं। औषधद्रव्योंके संयोग और संस्कारसे बना हुआ होनेके कारण अरिष्ट सब प्रकारके संधानोंमें अधिक गुणवाला होता है ॥ ७७-७९ ॥—

अनुक्तमानमरिष्टेषु द्रवद्रोणे तुलां गुडम् ॥ ८० ॥
शर्करां मधु वा दद्यात् प्रक्षेपं दशमांशिकम्।

जहाँ अरिष्टोंमें द्रव्योंका प्रमाण न लिखा हो वहाँ एक द्रोण (१०२४ तोले) क्वाथ, जल आदि द्रव पदार्थोंमें गुड, चीनी या शहद ४०० तोला और प्रक्षेप द्रव्य ४० तोला डाले। द्राक्षासव, मधूकासव और खर्जूरासवमें द्राक्षा, महुएके फूल और खर्जूरमें स्वभावतः शक्कर होती है, अतः उनमें शक्कर, गुड या शहद ३०० तोला डालना चाहिये ॥ ८० ॥—

वक्तव्य—उद्भिज्ज द्रव्योंके स्वरस, क्वाथ, हिम आदि द्रवकल्प कुछ समय पड़े रहनेसे बिगड-सड़ जाते हैं। अतः उनको चिरकाल तक न बिगड़ें ऐसे रखनेके लिये उनके अरिष्ट-आसव-कल्प बनाए जाते हैं। 'न रिष्यते, इति अरिष्टः'-जो नष्ट न हो (बिगड़े नहीं), उसको **अरिष्ट** कहते हैं। जिन क्वाथ आदि द्रव पदार्थ तथा प्रक्षेप द्रव्योंसे अरिष्ट बनाया जाता है उनके गुण-कर्म उसमें चिरकालतक यथावत् बने रहते हैं, इतना ही नहीं प्रत्युत सन्धानसंस्कारोत्पन्न मद्यांशके कारण उसके गुण-कर्म बढ़ जाते हैं **"अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः"**। यद्यपि 'षुञ्' अभिषवे-मद्य उत्पन्न करनेके लिये सन्धान करना, इस धातुसे 'आसूयते'-जिसका संधान किया जाता है, या 'आसूय निष्पाद्यते'-जो सन्धान करके बनाया जाता है वह **आसव** कहलाता है, इस व्युत्पत्तिसे '**आसव**' शब्द मद्यमात्रके लिये प्रयुक्त होता है; तथापि शास्त्रोंमें अरिष्टोंके लिये 'आसव' शब्दका विशेषार्थमें प्रयोग पाया जाता है। **शार्ङ्गधर** प्रभृति कई आचार्योंने क्वाथ करके बनाया हुवा **अरिष्ट** और बिना क्वाथ किये ही

---

१ औषधोपयुक्त कहनेका तात्पर्य यह है कि-अरिष्टकल्प औषधके तौरपर प्रयोग करनेके लिये बनाया जाता है। मादक गुणके लिये उसका प्रयोग नहीं होता। २ तबीज, दरबहूल (अ०); मेडिकेटेड वाइन् Medicated wine (अं०)।

बनाया हुआ **आसव** यह आसव-अरिष्टकी परिभाषा लिखी है, **"यदपक्कौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः । अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात् ॥"** (शा. म. अ. १०)। परन्तु चरक-सुश्रुत आदिमें इन कल्पोंका नाम देते समय इस परिभाषाका व्यभिचार देखनेमें आता है।

आसव बनानेके लिये कुछ आवश्यक सूचनाएँ—

१ आसव बनानेमें प्रक्षेपद्रव्योंका चूर्ण बनाकर डाला जाता है वह ठीक है। क्वाथके द्रव्य जौकुट करके डाले जाते हैं, परन्तु क्वाथके द्रव्योंका भी चूर्ण बना लेना अच्छा है। क्वाथके द्रव्योंका चूर्ण बना, अगले दिन उसमें द्विगुण उबलता हुआ जल मिला, पात्रको ढककर रातभर रहने दे। दूसरे दिन सवेरमें उसको हाथोंसे मसल, कपड़ेसे छानकर उस जलको एक पात्रमें ढाँककर रख दे। दूसरे पात्रमें दूना जल ले, उसमें वही (छाननेसे प्राप्त) क्वाथके द्रव्य डालकर मन्द-मन्द अग्निपर पकावे, जब आधा जल शेष रहे तब ठंढा होनेपर हाथोंसे मसलकर कपड़ेसे छान ले। इस प्रकार कषाय तैयार करनेसे क्वाथ्य द्रव्योंका अग्निपर उड़नेवाला और न उड़नेवाला सब सार भाग जलमें आजाता है और आसव अच्छा बनता है। फिर दोनों जल एकत्र कर उसमें जितना गुड़, चीनी या शहद डालना हो उसके दो हिस्से करके एक भाग (आधा) उसमें मिला, थोड़ा गरम करके जिस पात्रमें आसव बनाना हो उस पात्रमें डाल, उसमें प्रक्षेप द्रव्य तथा यदि किण्व (उसी आसवकी गाद) हो तो मिलाकर सन्धानके लिये रख दे[१]। आसवके सन्धान और भरनेके लिये चीनी मिट्टीकी पेचदार ढक्कनकी बरनी या सागवानकी लकड़ीका पीपा (ढोल) लेना उत्तम है। पेचदार ढक्कनकी चीनी मिट्टीकी बरनी छोटे (सँकरे) मुँहकी हो तो उसमें द्रव दो तृतीयांश ($\frac{2}{3}$) भर उसके मुँहपर कपड़ा बाँध दे और बड़े मुँहकी हो तो ढक्कनसे रबरका वायसर निकाल एक पेच बन्द करके रख दे। इस प्रकार रखनेसे आसवमें खमीर उठते समय जो कार्बन डाई ऑक्साइड वायु उत्पन्न होता है वह निकलता रहेगा और सन्धान (खमीर उठनेका) कार्य ठीक चलता रहेगा। सागवानके पीपेका मुँह १॥ इंचसे बड़ा न बनाएँ और उसे खुला रखकर ऊपर कपड़ा बांध दें। बीच बीचमें ढक्कन या कपड़ा खोल कर देखते रहें कि सन्धानकार्य ठीक चल रहा है या नहीं और आसवमें मीठापन ठीक है या नहीं। यदि मीठा कम होगया हो तो अलग रखे हुए मीठेमेंसे आधा मीठा और मिलाकर पूर्वोक्त विधिसे ढक्कन बन्द कर दें या

---

१ वायुमें दही जमानेवाले, खमीर उठानेवाले और मधुर पदार्थोंको विविध प्रकारके अम्लोंमें परिणत करनेवाले असंख्य जीवाणु विद्यमान रहते हैं। खमीर उठानेवाले जीवाणुओंके द्वारा विना किण्व डाले ही खमीर उठता है। परन्तु दूधमें दहीका जामन देनेसे जैसे अच्छा दही बनता है उसी प्रकार आसवमें सुराबीज डालनेसे अच्छा आसव बनता है।

कपड़ा बाँध दें । जब सन्धानकार्य समाप्त हो जाय और प्रक्षेप द्रव्य सब नीचे बैठ जायँ तब उसको कपड़ेसे छान, उसमें शेष मीठा मिला, बरनीके ढक्कनमें रबरका वायसर लगा, पेच कसकर बरनीका मुँह ठीक बन्द कर दें । पीपेमें आसवका सन्धान किया हो तो पीपेके मुँहको लकड़ीके डाटसे उसके अन्दर वायुका प्रवेश न हो इस प्रकार बन्द कर दें । पीपेसे आसव निकालनेके लिये पीपेके तलसे दो इंच ऊपर पीतलका नल (टूँटी) बैठाकर उस नलसे आसव निकालें । बरनीसे निकालना हो तो बरनीका ढक्कन खोल, बने इतना शीघ्र आसव निकाल कर तुर्त ढक्कन लगाकर मुँह बन्द कर दें । अधिक समय बरनीका मुँह खुला रहनेसे बाहरका वायु भीतर जानेसे दुबारा सन्धानकार्य होकर आसव शुक्तके रूपमें परिणत होकर खट्टा हो जायगा । उसमें आसवके गुण न रहेंगे । प्रक्षेप द्रव्य आसवमें पड़े रहें और आसवको न छाना जाय तो कोई हानि नहीं है । दूसरा आसव बनाते समय उसी पात्रमें प्रक्षेप द्रव्यकी जो गाद हो उसमेंसे तीन चतुर्थांश गाद निकाल दें और एक भाग रहने दें । यह गाद दूसरे आसवके लिये किण्वका काम देगी । उस पात्रको बिना साफ किये (धोये) ही उसमें दूसरे आसवका सन्धान करें । परन्तु यदि आसव खट्टा पड़ गया हो तो उस पात्रको धो, उसमें उबलता हुआ जल डाल, उसमें थोड़ा सोडा बाय कार्ब या चूना डालकर दो दिन रहने दें । दो दिनके बाद उस जलको निकालकर दूसरे उबलते हुए गरम जलसे धो लें । इस प्रकार दो बार गरम जलसे धो लेनेसे पात्र शुद्ध (अम्लत्वरहित) हो जायगा । यदि सन्धानपात्रमें जरा भी खटाईका अंश रहा तो उसमें शुक्त-सिरका ही बनेगा, आसव न बनेगा ।

२ **पात्र**—क्वाथ बनानेके लिये पीतलका अच्छी कलई किया हुआ पात्र ले, उसको राखसे खूब माँज, जलसे धोकर उसमें क्वाथ करें । सन्धान करने और आसव रखनेके लिये पेचदार ढक्कनकी छोटे या बड़े मुँहकी चीनी मिट्टीकी बरनी या सागवानकी लकड़ीका पीपा जो शराब भरनेके लिये बनाया जाता है वह अच्छा है । बरनीके ढक्कनमें रबरका वायसर लगाना चाहिये, जिससे ढक्कन कसकर बन्द कर देनेसे पात्रमें हवाका प्रवेश न हो सके । लकड़ीके पीपेके ऊपर मध्यमें लगभग १॥ इंच चौड़ी लकड़ीकी डाट लगानी चाहिये । पीपके नीचेके भागमें तलसे २ इंच ऊपर पीतलकी टूँटी बैठानी चाहिये, जिससे आवश्यकता पड़नेपर टूँटी खोलकर आसव निकाला जा सके ।

३ **ऋतु और स्थान**—आसव शीतकालमें बनानेसे अच्छा बनता है । आसवके पात्रको ठंढे साफ स्थानमें रखना चाहिये । वहाँ मक्खी, मच्छर आदि तथा सिरके अचार जैसी खट्टी वस्तु न होनी चाहिये ।

४ वैद्यको आसवनिर्माणका कार्य अपनी खुदकी देखभालमें कराना चाहिये । उसको सर्वथा नौकरोंके सुपुर्द नहीं करना चाहिये ।

शुक्तकल्पना—

> विनष्टमम्लतां यातं मद्यं, वा मधुरद्रवः ॥ ८१ ॥
> विनष्टः सन्धितो यस्तु तच्छुक्तमभिधीयते ।
> कन्दमूलफलादीनि सराजिलवणानि च ॥ ८२ ॥
> यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते शुक्तं तदपि कथ्यते ।

अरिष्ट आदि मद्य यदि नष्ट होकर (बिगड़कर) खट्टे पड़ जायँ, या गन्ने आदिका मीठा रस सन्धान करनेपर (कुछ समय रख छोड़नेपर) नष्ट होकर (अपना मीठापन छोड़कर) खट्टा बन जाय तो उसको शुक्त या चुक्र[1] (सिरका) कहते हैं। जलमें राई और नमक डाल, उसमें कन्द, मूल, फल आदि (आदि शब्दसे तेलमें बनाए हुए मूँग आदिके बड़े आदि) गेर कर कुछ समय (४–५ दिन) रख देनेसे वह खट्टा हो जाता है, उसको भी शुक्त कहते हैं ॥ ८१ ॥ ८२ ॥—

वक्तव्य—गन्ना, अंगूर, जामुन आदिके रसको मिट्टीके घड़ेमें डाल, घड़ेके मुँहपर कपड़ा बाँधकर उसको धूपमें रख दे। जब रस अच्छी तरह खट्टा हो जाय तब उसको कपड़ेसे छान कर पात्रमें भर दे। उसको सिरका कहते हैं। अच्छा सिरका बनानेमें अंदाजं-दो मासकी अवधि लगती है। सिरकेका औषधके लिये, खटाईके तौरपर या उसमें कन्द-मूल-फल आदि डालकर अचार (अथाना) बनानेमें उपयोग होता है। पानीमें थोड़ा नमक और राई डाल कर उसमें आलू, गाजर, मूली, बड़े आदि गेर कर कुछ (५–७) दिन रखनेसे वह खट्टा बन जाता है। उसको भी शास्त्रोंमें शुक्त नाम दिया है। लोग इसको काञ्जीका अचार या काञ्जीके बड़े कहते हैं।

सामान्यतः जो मीठा द्रवपदार्थ सन्धान करके रख छोड़नेपर खट्टा पड़ जाय उसको शुक्त कहते हैं। मनुस्मृतिमें दहीकी भी शुक्तमें गणना की है। शुक्तोंके भक्ष्याभक्ष्यका निर्णय देते हुए मनुने लिखा है कि—"×× वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि। दधि भक्ष्यं तु शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ॥ यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः।" (म० स्मृ० अ० ५, श्लो० ९–१०)=सर्व प्रकारके शुक्त अभक्ष्य हैं, परन्तु शुक्तोंमें दही और दहीसे बननेवाले छाछ आदि पदार्थ भक्ष्य हैं। इसी प्रकार धर्मशास्त्रमें जिनका निषेध नहीं है ऐसे पुष्प, कन्द और मूलसे बनाए हुए शुक्त (अचार) भी भक्ष्य हैं"। इन श्लोकोंकी टीकामें कुल्लूकभट्ट लिखते हैं कि–"स्वभावतो मधुररसानि यानि कालवशेनोदकादिना चाम्लीभवन्ति तानि शुक्तशब्दवाच्यानि। ।×××। यानि तु पुष्पमूलफलैरुदकेन सन्धीयन्ते तानि भक्षणीयानि। शुभैरिति विशेषणोपादानान्मोहादिविकारकारिभिः कृतसन्धानस्य प्रतिषेधः। तथा च बृहस्पतिः—

---

[1] खल (अ०); सिरकह (फा०); सिरका (हिं०); विनिगर्—Vinegar (अं०); एसीटम्—Acetem (ले०)।

"कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान्न वर्जयेत्। अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत्॥" इति। इस व्याख्यामें कुल्लूकभट्टने बृहस्पतिस्मृतिका प्रमाण देकर बताया है कि–जो सन्धान (आसव या शुक्त) मोह (मादकता–नशा) आदि विकार करने वाले हों वे अभक्ष्य हैं और जो मोहादि विकार करनेवाले नहीं हैं वे भक्ष्य हैं। किसी भी सन्धानमें खमीर उठनेमात्रसे उसको वैदिकधर्मकी दृष्टिसे अभक्ष्य नहीं माना जा सकता। अतः औषधार्थ बनाये हुए अरिष्ट या काञ्जीके अचार आदि जिनके भक्षणसे नशा नहीं होता उनको अभक्ष्य नहीं मानना चाहिये। अभक्ष्य सुरा आदि वे सन्धानोत्पन्न पेय हैं जिनसे मद(नशा) उत्पन्न होता हो।

तुषाम्बु-सौवीरयोः कल्पना—

तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः॥ ८३॥
यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सन्धितं भवेत्।
(शा. म. खं. अ. १०)।

तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः॥ ८४॥
सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषीकृतैः।
गोधूमैरपि सौवीरमाचार्याः केचिदूचिरे॥ ८५॥
(योगमहोदधि, सन्धानवर्ग)

षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा ते च पेये प्रकीर्तिते।
(सु. सू. अ. ४४)।

सौवीरक-तुषोदकयोर्व्यक्ताम्लत्वे कालावधिं दर्शयन्नाह–षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वेति; षड्रात्र-सप्तरात्रविकल्पोऽप्युष्ण-शीतकालापेक्षः (ड.)॥

तुष (छिलके) सहित कुटे हुए जौको मिट्टीके घड़ेमें बिना पकाये ही चौगुने पानीमें डाल, घड़ेके मुँहको कपड़ेसे बाँधकर रख दे। जब द्रव खट्टा हो जाय तो उसको कपड़ेसे छानकर पात्रमें भर दे। इसको **तुषोदक** कहते हैं। निस्तुष (छिलके निकाले हुए)जौको कूट, अठगुने जलमें पका, आधा जल बाकी रहने पर मिट्टीके घड़ेमें डाल, घड़ेके मुँहको कपड़ेसे बाँधकर रख दे। जब द्रव खट्टा हो जाय तो उसको कपड़ेसे छानकर पात्रमें भर ले। उसको **सौवीर** कहते हैं। उष्ण कालमें छः दिनोंमें तथा शीतकालमें सात दिनोंमें तुषोदक और सौवीर पीने योग्य खट्टे बन जाते हैं। योगमहोदधिमें निस्तुष जौ या गेहूँको बिना पकाये ही सन्धानकर **सौवीर** बनानेको लिखा है॥ ८३–८५॥—

वक्तव्य—सुश्रुतने विरेचनकल्पविज्ञानीयाध्याय(सू. अ. ४४)में और चरकने श्यामात्रिवृत्कल्प(क. अ. ७)में औषधद्रव्ययुक्त तुषोदक और सौवीर बनानेका विधान लिखा है।

काञ्जिककल्पना—

अन्नं शाल्यादि संसिद्धं प्रक्षिप्तं त्रिगुणे जले ॥ ८६ ॥
धान्याम्लं सन्धितं प्रोक्तमारनालं च काञ्जिकम् ।
शालिकोद्रवमण्डैर्वा सन्धितं काञ्जिकं भवेत् ॥ ८७ ॥

चावलको जलमें पका, मिट्टीके घड़ेमें तीनगुने जलमें डाल, घड़ेके मुँहको कपड़ेसे बाँधकर ७ दिन या उसमें अच्छी खटाई उत्पन्न हो वहाँतक रख छोड़ें । पीछे कपड़ेसे छानकर काममें ले । इसे **धान्याम्ल, आरनाल और काञ्जिक** कहते हैं । कई आचार्योंने चावल या कोदोंके मण्डका सन्धान करके काञ्जिक बनानेको लिखा है ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

वक्तव्य—जहाँ सामान्य काञ्जीका विधान हो वहाँ इस प्रकार काञ्जी बनाकर काममें ले । पारदके संस्कारादिमें जहाँ काञ्जी बनानेका विशेष विधान लिखा हो वहाँ उस विधानसे काञ्जी बनानी चाहिये ।

सुरा(मद्या)सवकल्पना—

आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वा प्रस्रुतं पिबेत् ।
(च. क. अ. २) ।

औषधद्रव्योंके चूर्णको स्वच्छ मद्यमें सात दिन बन्द पात्रमें भिगो, हाथसे मसल, कपड़ेसे छानकर शीशीमें भर ले, इसको **सुरासव** कहते हैं ॥—

वक्तव्य—पाश्चात्यचिकित्साशास्त्रमें जो टिंक्चर बनानेका विधान है उसके तुल्य ही यह सुरासव बनानेका विधान है ।

स्नेहपाकः ।

स्नेहपाककल्पना—

जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम् ।
तत्र स्यादौषधात् स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ॥ ८८ ॥
(च. क. अ. १२) ।

औषधात् स्नेहश्चतुर्गुण इति कल्कात् स्नेहश्चतुर्गुणः । स्नेहात्तोयं चतुर्गुणमिति तोयशब्दस्य द्रवोपलक्षणत्वाद् द्रवं चतुर्गुणमित्यर्थः । यत्र तु विशिष्टं मानं जलादीनामुक्तं तत्र तथैव कर्तव्यं, "निर्दिष्टे तद्वदेव तु" (सु. चि. अ. ३१) इति वचनात् (च. द.) ॥

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम् ।
तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तद्वदेव तु ॥ ८९ ॥

अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्।
कल्कक्काथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् ॥ ९० ॥
(सु. चि. अ. ३१)।

स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः, स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः; तदैकध्यं विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः ॥ ९१ ॥ (सु. चि. अ. ३१)।

सुश्रुतोक्तपरिभाषा हीयं गणविषया, 'गणात्तस्मात् प्रयोजयेत्' इति वचनात्। गणोऽपि यत्राधिकरणेन श्रुतस्तत्रैव क्वाथ-कल्ककरणं; यदुक्तमन्यत्र—"यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्नेहसंविधौ। तत्रैव कल्क-निर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः ॥" (च. द.)। न चायं गणो गणसंज्ञया यो गण उक्तस्तन्मात्रे विवक्षितः; किन्तु त्रिप्रभृतिद्रव्यसमूहे, 'गणात्तस्मात्' इत्युक्तेः (ग.)।

स्नेहपाके त्वनिर्दिष्टप्रमाणे समुदितस्य द्रवस्य पादेन स्नेहो योज्यः, तत्पादेन कल्कः। × × ×। पञ्चप्रभृति तु द्रवं पृथक् स्नेहसममेवावपेत्। अनिरूपितकल्पनं च भैषज्यं कल्कीकुर्यात्। अथैकध्यं प्रतिसंसृज्याधिश्रित्य च निर्यूहवत् साधयेत्। तत्र यदा विरमति शब्दः, प्रसादमापद्यते स्नेहो, यथास्वं गन्धवर्णरसोत्पत्तिः, भैषज्यमङ्गुलीभ्यां मृद्यमानमनतिमृद्वनतिदारुणमनङ्गुलिग्राहि च स्यात्, स कालस्तस्यावतारणाय। अपि च घृतस्य फेनोपशमः, तैलस्य तु तदुद्भवः। अथावतार्य शीतीभूतमहतेन वाससा परिपूय, शुचौ दृढे कलशे समासिच्य, अपिधानेन पिधाय, शुक्लेन वस्त्रेणाच्छाद्य, सूत्रेण सुबद्धं स्वनुगुप्तं शुचौ देशे सुस्थितं स्थापयेत् ॥ ९२ ॥ (अ. सं. क. अ. ८)

नाङ्गुलिग्राहिता कल्के न स्नेहेऽग्नौ सशब्दता।
(अ. हृ. क. अ. ६)।

न स्नेहेऽग्नौ सशब्दतेति अग्नौ प्रक्षिप्ते स्नेहे चटचटायित्वं न भवति (अ. द.)॥

वर्तिवत् स्नेहकल्कः स्याद्यदाऽङ्गुल्या विमर्दितः ॥ ९३ ॥
शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः स्नेहः सिद्धो भवेत्तदा।
(शा. म. खं. अ. ९)।

यदा स्नेहे परिपाचितः कल्कोऽङ्गुल्या विमर्दितो वर्तिसदृशो भवति, अग्नौ निक्षिप्तश्च स एव कल्कः शब्दरहितो भवति, तदा स्नेहः सिद्धो ज्ञातव्यः।

अब स्नेहपाककी परिभाषा लिखते हैं।—घृत-तैल आदि स्नेहको क्वाथ-स्वरस-दूध-

१ "समुदितस्य द्रवस्येति यदुक्तं तत्र सर्वत्र विज्ञेयम्, अपि त्वेकव्यादिके यावच्चत्वारो द्रवास्तावत्समुदितस्येति विज्ञेयम्। पञ्चप्रभृति तु द्रवं पृथक् प्रत्येकं स्नेहसममेवावपेत्" इति इन्दुः।

जल आदि द्रवपदार्थ तथा औषधद्रव्योंके कल्कके साथ पकाकर जो सिद्ध घृत-तैल आदि तैयार किये जाते हैं उसको **स्नेहपाक** कहते हैं । स्नेहपाकमें कल्क स्नेह और द्रव ये पदार्थ मुख्य होते हैं । स्नेहपाकमें जहाँ ग्रन्थमें ही कल्क, स्नेह और द्रवका प्रमाण लिखा हो वहाँ ग्रन्थोक्त प्रमाणसे ही कल्क, स्नेह और द्रव लेकर स्नेहपाक करना चाहिये । परन्तु ग्रन्थमें कल्क, स्नेह और द्रवका प्रमाण न लिखा हो तो कल्कसे चारगुना स्नेह और स्नेहसे चारगुना द्रव लेकर स्नेहपाक करना, यह सामान्य परिभाषा–नियम है । यदि ग्रन्थमें कोई भी द्रव न लिखा हो, केवल औषध द्रव्यके साथ ही स्नेहपाक करना लिखा हो, तो औषधद्रव्योंके चूर्णका जलमें कल्क बनाना और कल्कका सम्यक्पाक होनेके लिये स्नेहसे चारगुना जल देकर स्नेहपाक करना चाहिये[1] । कई स्नेहोंके पकानेमें एकसे अधिक द्रवपदार्थ लेना लिखा होता है । द्रव पदार्थ चार तक हों वहाँ मिलकर स्नेहसे चार गुणा लेना यह **वृद्धवाग्भट**का मत है । अतः जहाँ एक ही द्रव पदार्थ लिखा हो वहाँ वह एक ही स्नेहसे चारगुना, दो द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ दोनों द्रव पृथक् स्नेहसे दूने–मिलकर स्नेहसे चारगुने देकर, जहाँ तीन द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ तीनों द्रव समभाग–मिलकर स्नेहसे चारगुने देकर, जहाँ चार द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेहके समभाग–मिलकर स्नेहसे चारगुने देकर स्नेहपाक करना चाहिये । जहाँ चारसे अधिक (पाँच–छः प्रभृति) द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ प्रत्येक द्रवपदार्थ स्नेहके समभाग लेकर पाँच छः प्रभृति जितने द्रव लिखे हों उतने गुने द्रवपदार्थ देकर स्नेह पकाना चाहिये । जहाँ स्नेहपाकमें औषधद्रव्योंके स्वरस, क्वाथ या कल्क बनाकर लेनेका ग्रन्थमें स्पष्ट विधान न हो वहाँ औषधद्रव्योंका कल्क लेना चाहिये ऐसा **वृद्धवाग्भट**का मत है । **सुश्रुत** कहते हैं कि–जहाँ औषधद्रव्योंका शास्त्रोक्त गणसे[2] निर्देश हो या तीन प्रभृति[3] औषधद्रव्य लिखे हों वहाँ उन द्रव्योंका कल्क और क्वाथ दोनों देना चाहिये (परन्तु जहां गणसे निर्देश न हो अथवा एक या दो औषध द्रव्य हों वहाँ उनका कल्क ही देना चाहिये) । कल्क, स्नेह और द्रव पदार्थ सबको एक साथ नीचे मिट्टीका लेप किये हुए कलईदार ताम्र या पीतलके, भीतरसे चिकने लोहेके या मजबूत मिट्टीके बरतनमें डाल, बरतनको चूल्हेपर चढ़ाकर मंद अग्निपर पकावे । पकाते समय बड़े आसनपर सुखपूर्वक बैठकर बड़े कर्छे या खोंचेसे हिलाता रहे और चारों ओरसे एक सी अग्नि लगती है या नहीं इसका ध्यान रखे । जब पकते हुए स्नेहमें पानीका शब्द बंद हो जाय, स्नेह कल्कसे अलग

---

१ "द्रव्येण केवलेनैव स्नेहपाको भवेद्यदि । तत्राम्बुपिष्टः कल्कः स्याज्जलं चात्र चतुर्गुणम्" (शा. म. अ. ९)॥ २ यह चक्रपाणिका मत है । ३ यह गङ्गाधर कविराजका मत है । चक्रपाणिदत्त 'गण'शब्दका 'शास्त्रमें गणशब्दसे कहे हुए त्रिफला, पञ्चमूल आदि गण, ऐसा अर्थ करते हैं; और गङ्गाधर कविराज 'गण'शब्दका दोसे अधिक द्रव्य, यह अर्थ करते हैं ।

होकर स्वच्छ दीखने लगे, जिन द्रव्योंसे स्नेह पकाया हो उनके गन्ध-वर्ण और रस स्नेहमें आजावें, कल्कको अंगुठे और तर्जनेसे मर्दन करनेपर कल्क अंगुलियोंपर लगे नहीं, अति मृदु या अति कठिन न मालूम हो और कल्ककी बत्ती बनने लगे, कल्क और स्नेहको आगपर डालनेपर चटचट शब्द न हो तथा तैलमें फेन आने लगें और घृतमें फेन आना बन्द हो जाय, तब स्नेह ठीक पककर तैयार होगया है ऐसा समझकर उसको अग्निपरसे उतारकर ठंढा होने दे। जब स्नेह ठंढा हो जाय तब उसको स्वच्छ और कहींसे भी न फटे हुए कपड़ेसे छानकर काँचकी शीशियोंमें भर दे और शीशियोंके मुँहको डाटसे अच्छीतरह बन्दकर, ऊपर कपड़ा बाँधकर सुरक्षित स्थानमें रख दे॥ ८८-९३॥—

वक्तव्य—स्नेहपाकके लिये स्वरस, क्वाथ, कल्क, काञ्जी, तक्र (छाछ) आदि उनके बनानेकी जो परिभाषाएँ तत्तत् प्रकरणमें लिखी हैं, उस प्रकार बनानने चाहिए। कई वैद्योंका मत है कि-जहाँ स्नेहपाकमें एकसे अधिक द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ प्रत्येक द्रवपदार्थ स्नेहसे चारगुना लेना चाहिये, परन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। **वृद्धवाग्भटने** स्पष्ट लिखा है कि-जहाँ चारतक द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ मिले हुए द्रवोंसे चतुर्थांश स्नेह लेना और जहाँ चारसे अधिक द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ प्रत्येक द्रव पदार्थ स्नेहके बराबर लेना="**समुदितस्य द्रवस्य पादेन स्नेहो योज्यः। पञ्चप्रभृति द्रवं पृथक् स्नेहसममेवावपेत्॥**" जहाँ ग्रन्थमें कितना स्नेह पकाना यह न लिखा हो वहाँ अभ्यङ्गादिके लिये १ प्रस्थ (६४ तोला) स्नेह पकाना, और नस्यके लिये १६ तोला स्नेह तैयार करना="**अनिर्दिष्टप्रमाणानां स्नेहानां प्रस्थ इष्यते। नस्यार्थं स्नेहकुडव इष्यते स्नेहवेदिभिः॥**" (गङ्गाधरीय-परिभाषा) ऐसा **गङ्गाधर कविराजका** मत है। **चक्रपाणिदत्त** कहते हैं कि-जहां स्नेहका प्रमाण न लिखा हो वहाँ अपनी इच्छानुसार स्नेह पकाना[1]। **शार्ङ्गधर** लिखते हैं कि-जहाँ केवल क्वाथसे ही स्नेहपाक करना लिखा हो वहाँ क्वाथके

---

१ "अत्र च पक्तव्यघृतस्य प्रमाणानिर्देशादव्यवस्थितमानमेव सर्पिरिच्छातः पक्तव्यं, यत्र तु प्रस्थादिमाननिर्देशं करोति तत्र तावन्मात्रेणैव स्नेहसाध्यरोगोपशमो भवतीति ज्ञेयम्। तथाहि वातव्याधौ प्रभूतस्नेहसाध्ये भूयसीमेव स्नेहमात्रां वक्ष्यति, प्रपौण्डरीकाद्ये नस्ययोगितया कुडवमानं स्नेहं वक्ष्यति, कुष्ठोक्ततिक्तषट्पलादौ अत्यल्पपाकसंविधानेन पक्वस्य घृतस्य कार्यकर्तृत्वं भवतीति भेषजप्रभावदर्शी महर्षिर्बोधयति। तत्र यदि कुष्ठस्य दीर्घरोगतया भूयो भूयस्तिक्तषट्पलकेपेन प्रयोजनं तदा पुनः पुनः षट्पलमानं घृतं पक्तव्यं, "**यथा कुर्वन्ति स उपायः**" (च. सू. अ. २६) इति वचनात्। एवमगस्त्यहरीतक्यादावपि प्रतिनियतमानकथनप्रयोजनं वाच्यम्। तस्मान्न यादृच्छिकं क्वचिदाचार्यस्य मानाभिधानमनभिधानं च" (च. चि. अ. ३ पिप्पल्यादिघृत पर च. द. की व्याख्या)।

औषधोंका कल्क भी डालना चाहिये (क्योंकि विना कल्क डाले स्नेह सिद्ध होनेकी जो परीक्षा लिखी है वह ठीक नहीं हो सकती)="क्राथेन केवलेनैव पाको यत्रेरितः क्वचित्। काथ्यद्रव्यस्य कल्कोऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते ॥" (शा. म. अ. ९)। जहाँ स्नेहपाकमें स्वरस, क्राथ आदि द्रव पदार्थ लिखे हों वहाँ उन द्रवपदार्थोंमें और जहाँ कोई भी द्रवपदार्थ न लिखा हो वहाँ जलमें औषधद्रव्योंका कल्क बनाकर, उस कल्कके प्रमाणसे चारगुना स्नेह और स्नेहसे चारगुना जल लेना चाहिये। स्नेहका पाक कितने समयमें समाप्त करना चाहिये इस विषयमें **शार्ङ्गधर** कहते हैं कि–घृत, तैल, अवलेह आदिको एक दिनमें तैयार न करे, किन्तु पहले दिन थोडा पकाकर दूसरे दिन उसका पाक पूरा करे। क्योंकि–एक रात पडे रहनेसे ये विशेष गुणकारक होते हैं="घृततैलगुडादींश्च साधयेन्नैकवासरे। प्रकुर्वन्त्युषिता[1] ह्येते विशेषाद्गुणसंचयम् ॥" (शा. म. अ. ९)।

त्रिविधस्नेहपाकलक्षणम्—

स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो मृदुर्मध्यः खरस्तथा ॥ ९४ ॥
तुल्ये कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः।
संयाव इव निर्यासे मध्यो दर्वीं विमुञ्चति ॥ ९५ ॥
शीर्यमाणे[2] तु निर्यासे वर्त्यमाने खरस्तथा।
खरोऽभ्यङ्गे स्मृतः पाको, मृदुर्नस्तःक्रियासु च ॥ ९६ ॥
मध्यपाकं तु पानार्थे बस्तौ च विनियोजयेत्। (च. क. अ. १२)

तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः, बस्ति-कर्णपूरणयोस्तु खर इति ॥ ९७ ॥ (सु. चि. अ. ३१)

ईषत्सरसपाकस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत्।
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरसकोमले ॥ ९८ ॥
ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत् खरः।
तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजनः ॥ ९९ ॥
आमपाकश्च निर्वीर्यो वह्निमान्द्यकरो गुरुः।

स्नेहका पाक तीन प्रकारका होता है—मृदु, मध्य और खर। जिस पाकमें सिट्ठी कल्कके जैसी कुछ द्रवांशयुक्त हो उसको **मृदु**, जिसमें सिट्ठी द्रवांशरहित परन्तु हलुए जैसी कोमल हो और कर्छेको लगे नहीं उसको **मध्य**, और जिसमें सिट्ठी पानीमें गेरनेसे नीचे बैठ जावे, कुछ कठिन हो तथा अङ्गुष्ठ और तर्जनीसे मर्दन करनेसे बत्ती बन

---

१ 'उषिता रात्रौ वासिताः' (का.)। २ 'शीर्यमाणे इति अवसीदति। वर्त्यमाने इति अङ्गुलिपीडनाद्वर्तितां गच्छति' इति चक्रः।

जाय उसको खर जानना चाहिये। इसके बाद स्नेहको पकानेसे वह दग्धपाक हो जाता है। दग्धपाक किसी कामका नहीं रहता और जलन करता है । मृदुपाकसे भी कम पकानेसे स्नेह कच्चा रहता है, उसमें औषधद्रव्योंका वीर्य पूरा आता नहीं, वह गुरु होता है और पिलानेसे अग्निमान्द्य करता है। **चरक** कहते हैं कि—अभ्यंगके लिये खरपाक, नस्यके लिये मृदुपाक और पान तथा बस्तिके लिये मध्यपाक स्नेहका प्रयोग करे। **सुश्रुत**का मत है कि पान और भोजनके लिये मृदुपाक, नस्य और अभ्यंगके लिये मध्यपाक और बस्ति तथा कर्णपूरणके लिये खरपाक स्नेहका प्रयोग करना चाहिए ॥ ९४-९९ ॥

स्नेहको पहले मूर्च्छित करके (स्नेहमें पहले मूर्च्छापाक करके) पीछे दूसरा पाक करनेका रिवाज कई देशके वैद्योंमें प्रचलित है। उसका विधान चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर आदि संहिताग्रन्थोंमें तथा डल्हण, चक्रपाणिदत्त, शिवदास आदिके व्याख्या-ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आता । पिछले ग्रन्थोंमें **त्रिमल्लभट्ट**विरचित **बृहद्योगतरङ्गिणी, योगरत्नाकर,** शार्ङ्गधरकी **गूढार्थदीपिका व्याख्या** और **भैषज्यरत्नावली**में यह विधान देखा जाता है । उनके अनुसार स्नेहमूर्च्छनाका विधान लिखते हैं—

तैलमूर्च्छना—

तैलं कृत्वा कटाहे दृढतरविमले मन्दमन्दानले तत्
पक्वं निष्फेनभावं प्रगतमिह यदा शैत्यभावं तदैव ।
तैलस्येन्दुकलांशकेन विकशा देया तु मूर्च्छाविधौ
ये चान्ये त्रिफला-पयोद-रजनी-ह्रीबेर-लोध्रान्विताः ।
सूचीपुष्प-वटावरोह-नलिकास्तस्याथ पादांशकाः
पाच्यास्तैलजगन्धदोषहृतये कल्कीकृतास्तद्विदैः ॥ १०० ॥

तैलको साफ की हुई मजबूत कड़ाहीमें मंदी आँचपर पकावे । जब तैलमें फेन आकर बैठ जाय तब नीचे उतार, ठंढा कर, उसमें तैलसे सोलहवाँ भाग मजीठका कल्क और मजीठसे चौथा भाग हरड, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, हल्दी, खस, लोध्र, केवडेके फूल, वड़वाई और नलिका[१] इनका कल्क तथा तैलसे चारगुना जल मिलाकर स्नेहपाकविधिसे पकावे । इस मूर्च्छापाकसे तैलका गन्धदोष दूर होता है ॥ १०० ॥—

---

१ नलिका कलकत्तेके बाजारमें 'नलिका', 'नालुका' या 'केशिया' नामसे मिलती है। यह भारतवर्षमें उत्पन्न हुई दालचीनी है।

घृतमूर्च्छना—

पथ्या-धात्री-बिभीतैर्जलधर-रजनी-मातुलुङ्गद्रवैश्च
द्रव्यैरेतैः समस्तैः कुडवपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन ।
आज्यप्रस्थं विफेनं परिचपलगतं मूर्च्छयेद्वैद्यराज-
स्तस्मादामोपदोषं त्यजति च सकलं वीर्यवत् सौख्यदायि १०१

६४ तोले घीको कड़ाहीमें डालकर पकावे । जब घी गरम होकर फेन और शब्द-रहित हो जाय तब उसमें हरड़ा, बहेड़ा आँवला, नागरमोथा और हल्दीके चूर्णका बिजोरेके रसमें पीसा हुआ कल्क १६ तोला और जल २५६ तोला मिलाकर स्नेह-पाकविधिसे पकावे । इस प्रकार मूर्च्छित किया हुआ घृत आमदोषरहित और गुणकारक होता है ॥ १०१ ॥

वक्तव्य—स्नेहमें कपूर मिलाना हो तो स्नेहको थोड़ा गरम कर उसमें कपूरका चूर्ण मिलाकर हिलानेसे सारा कपूर स्नेहमें गलकर मिल जाता है । केशर, कस्तूरी, अंबर, जबाद (गन्धमार्जारवीर्य) आदि सुगन्धि द्रव्य स्नेह छाननेके बाद उसी स्नेहमें खूब महीन पीसकर मिलाना चाहिये ।

क्षारः ।

क्षारकल्पना—

क्षारवृक्षस्य पञ्चाङ्गं शुष्कमग्नौ प्रदीपयेत् ।
नीत्वा तद्भस्म मृत्पात्रे क्षिप्त्वा नीरे तु षड्गुणे ॥ १०२ ॥
विमर्द्य धारयेद्रात्रौ प्रातरच्छं जलं नयेत् ।
एकविंशतिवारांस्तद्वाससा स्रावयेज्जलम् ॥ १०३ ॥
तन्नीरं क्राथयेद्वह्नौ यावत् सर्वं विशुष्यति ।
ततः पात्रात् समुल्लिख्य क्षारो ग्राह्यः सितप्रभः ॥ १०४ ॥

जिस वृक्षसे क्षार निकालना हो उसका पञ्चाङ्ग ला, उसको सुखाकर भीतरसे खूब साफ की हुई बड़ी लोहेकी कड़ाहीमें जलाकर भस्म बना ले । पीछे उसको मिट्टीके पात्रमें डाल, उसमें छःगुना जल मिला, हाथसे खूब मसल, पात्रको ढाँककर रातभर रहने दे । दूसरे दिन स्वच्छ जलको दूसरे पात्रमें निथार कर इकीसवार गाढ़े स्वच्छ वस्त्रसे छान ले । प्रतिवार छानते समय वस्त्रको जलसे धोना चाहिए । पीछे उस जलको मिट्टीके या भीतरसे एनामल किए हुए लोहेके पात्रमें मंदी आँच पर पकावे और जलको हिलाता रहे । सारा जल जलकर सूख जाय तब पात्रको नीचे उतार कर ठंढा होने दे । ठंढा होनेपर सारे क्षारको खुरचकर निकाल ले और तुर्त काँचकी बरनीमें भरकर बरनीका मुँह बन्द कर दे ॥ १०२–१०४ ॥

वक्तव्य—कई वृक्षोंका वीर्य क्षारांशमें रहता है; जैसे–मोखा, जौ, चिचड़ा, बाड़्य, केला, तालमखाना आदि। उनसे क्षार निकालनेकी यह सामान्य विधि है। क्षारकर्मके लिए विशेष प्रकारका क्षार तैयार किया जाता है। उसका विधान **सुश्रुत** सूत्रस्थान अ. ११ तथा **अष्टाङ्गहृदय** सूत्रस्थान अ. ३० में विस्तारसे लिखा है। उसको वहीं देखें। मैंने विस्तारभयसे उसको यहाँ नहीं लिखा है। ऊपर लिखे हुए विधानसे, बनाए हुए क्षारोंका केवल या योगोंमें मिलाकर प्रयोग किया जाता है। केवल क्षारका प्रयोग करना हो तब उसको जल–क्वाथ आदि द्रव पदार्थमें मिलाकर देना चाहिये। अकेला क्षार जीभ पर डालनेसे मुँहमें छाला पड़नेका संभव है।

लेपः।

लेपकल्पना—

> द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सद्रवं तनु[१]।
> देहे प्रलेपनार्थं तल्लेप इत्युच्यते बुधैः॥ १०५॥
> प्रलेपश्च प्रदेहश्च तस्य भेदद्वयं स्मृतम्।
> शीतस्तनुः प्रलेपः स्याद्रक्त-पित्तविकारहा॥ १०६॥
> कफ-वातविकारेषु घनश्चोष्णः प्रदेहकः।
> षड्भागं पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागं तु वातिके॥ १०७॥
> अष्टभागं तु कफजे स्नेहभागं प्रदापयेत्।
> न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्॥ १०८॥
> न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत्।
> विशोषीं चाविशोषीं च वीक्ष्य कार्यं प्रयोजयेत्॥ १०९॥
> रक्त-पित्तविकारेषु व्रणशोथे तथैव च।
> पूर्वमुद्धृत्य लेपं तु पुनर्लेपं प्रदापयेत्॥ ११०॥
> अभिघाते तथा वातरुजि लेपं विशोषयेत्।

शरीरपर लगानेके लिये औषध गीला–ताजा हो तो वैसा ही और सूखा हो तो उसके चूर्णमें जल–गोमूत्र–काँजी आदि जो द्रव पदार्थ योगमें लिखा हो वह मिला, शिलापर खूब महीन पीसकर जो कल्क तैयार किया जाता है उसको **लेप** कहते हैं। लेपके दो भेद हैं—**प्रलेप** और **प्रदेह**। रक्त और पित्तके विकारोंके लिये शीतवीर्य औषधोंका ठंढा और पतला जो लेप किया जाता है उसको **प्रलेप** कहते हैं। कफ और वातके रोगोंमें उष्णवीर्य औषधोंके कल्कको गरम करके जो गाढ़ा–मोटा लेप किया जाता है उसको **प्रदेह** कहते हैं। लेपमें यदि स्नेह मिलानेको लिखा हो तो पित्तके रोगोंमें छठा भाग, वातरोगोंमें चौथा भाग और कफके रोगोंमें आठवाँ

---

१ तनु सूक्ष्मं यथा स्यात् तथा शिलापिष्टमित्यर्थः।

भाग स्नेह मिलावे। अगले दिन बनाए हुए कल्कसे दूसरे दिन लेप न करे। एक बार लगाकर उतारे हुए लेपको दूसरी बार लगानेके काममें न ले। प्रयोजन देखकर लेपको सूखनेके पहले ही उतार कर दूसरा लेप करे या सूखने पर भी रहने दे। रक्त तथा पित्तके विकारोंमें और व्रणशोथमें सूखनेके पहले ही लगाए हुए लेपको उतारकर दूसरा लेप लगावे। चोट लगनेपर या वायुके दर्दपर जो लेप लगाया जाता है उसको सूखनेपर भी रहने दे॥ १०५–११०॥—

वक्तव्य—लेपके विषयमें हमने यहाँ संक्षेपमें लिखा है। जिनको विशेष जिज्ञासा हो वे **सुश्रुत** सू. अ. १८, **चरक** चि. अ. २१, तथा **शार्ङ्गधर** उत्तरखण्ड अ. ११ देखें।

उपनाहः (पुलटिस)।

उपनाहकल्पना—

> **अतसी-यव-गोधूमचूर्णमालोडितं द्रवैः॥ १११॥**
> **संपक्वं सौषधस्नेहं वस्त्रेणान्तरितं तथा॥**
> **बध्यते व्रणशोथादावुपनाहः स उच्यते॥ ११२॥**

अलसी (तिसी), जौ या गेहूँ आदिके चूर्णमें जल-दूध-काञ्जी-गोमूत्र आदि द्रव पदार्थ, हल्दी–दशाङ्गलेप आदि औषधद्रव्य और थोड़ा घी या तेल मिला, अग्निपर पका, ऊपर नीचे कपड़ा रखकर व्रणशोथ आदिपर बाँधा जाता है, उसको **उपनाह** (पुलटिस) कहते हैं॥ १११॥ ११२॥

मरहम।

मरहमकल्पना—

मरहम या **मलहम** शब्द यूनानी वैद्यकका है। **योगरत्नाकर** आदि ग्रन्थोंमें इससे **मलहर** यह संस्कृत शब्द बनाया गया है। घी, तैल, मोम, गन्धाबिरोजा, चंदरूस और राल ये मरहमके मुख्य उपादान हैं। डाक्टरीमें मरहम बनानेमें वेसेलीन, हार्ड पेराफीन और चरबीका भी प्रयोग किया जाता है। इन द्रव्योंमें पारा, गन्धक, सफेदा, सिन्दूर, मुर्दासंग, कपूर, मेन्थोल, अजवायनके फूल आदि औषधद्रव्य मिलाकर अनेक प्रकारके मरहम तैयार किये जाते हैं। तेल, मोम, गंधाबिरोजा आदि द्रव्योंको पहले गरम कर, गला, कपड़ेसे छानकर पीछे उसमें अन्य द्रव्योंका कपड़छान चूर्ण मिलाना चाहिये। मरहमोंको काँचके, चीनी मिट्टीके या एनामलके बरतनोंमें भर, बरतनका मुँह बन्द करके रखना चाहिये। मरहमोंका व्रणके शोधन, रोपण और दारणके लिये तथा खाज-फोड़े-फुन्सी-अर्श आदिपर लगानेके लिये प्रयोग किया जाता है। घृतको १००–१००० बार जलसे धो, उसमें कत्था, कपूर आदि द्रव्य मिलाकर भी मरहम बनाया जाता है।

गुडूचीसत्त्वकल्पना—

गुडूचीं खण्डशः कृत्वा क्षालयित्वा सुकुट्टयेत् ।
चतुर्गुणं जलं दत्त्वा हस्ताभ्यां मर्दयेद्दृढम् ॥ ११३ ॥
वस्त्रेण गालितं तोयं रात्रिं संस्थापयेद्बुधः ।
उपरिस्थं जलं त्यक्त्वा सत्त्वं ग्राह्यमधःस्थितम् ॥ ११४ ॥

अँगूठे जितनी मोटी ताजी-हरी गिलोय ला, उसको जलसे धो, छोटे छोटे टुकड़े कर, लकड़ीके ऊखलमें डालकर लकड़ीके मूसलसे खूब कूटे। पीछे बड़े कलईदार बरतनमें डाल, उसमें, चौगुना जल मिला, हाथोंसे खूब मर्दन कर, दूसरे कलईदार बरतनमें स्वच्छ कपड़ेसे जलको ३-४ बार छान, बरतनके मुँहपर थाली ढाँककर रातभर रहने दे। दूसरे दिन ऊपरका जल धीरेसे दूसरे पात्रमें निथार ले। पात्रके तलेमें गिलोयका सत्त्व बैठेगा, उसको सुखाकर निकाल ले। इसको **गुडूचीसत्त्व (सत गिलोय)** कहते हैं। (निथारे हुए जलको मंदी आँचपर पका, उसका घन बनाकर उससे **संशमनी वटी** बनाले) ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

वक्तव्य—इस प्रकार अदरक, कचूर आरारूटके कन्द आदिसे श्वेतसार (निशास्ता—स्टार्च)-जातिका सत्त्व निकाला जाता है।

बिरोजेका सत्त्व बनानेकी विधि—

एक कलईदार पीतलके टोप या मिट्टीके पात्रमें आधा दूध और आधा जल आधेतक भर, पात्रके मुँहपर ढीला कपड़ा बाँध, उसपर गंधाबिरोजा डालकर पात्रको अंगीठीपर चढ़ावे। नीचे अग्नि मंद रखे। जब बिरोजा सारा चू कर नीचे बैठ जाय तब पात्रको नीचे उतार, ठंढा होनेपर नीचे बैठे हुए सत्त्वको निकाल, जलसे धोकर छायामें सुखा ले। सत्त्व ठीक बना होगा तो उसको खरलमें पीसनेसे उसका चूर्ण हो सकेगा। यदि सत्त्व चूर्ण बनने योग्य न बना हो—कुछ नरम हो तो उसको फिर ऊपर लिखी हुई विधिसे तैयार करे।

शतधौत-सहस्रधौत-घृतकल्पना—

ऊपरसे मण्ड (पतला भाग) निकाला हुआ गाढ़ा घी ले, उसको कलईदार बरतनमें डाल, उसपर ठंढा जल गेर, हाथसे खूब मथकर वह जल निकाल दे और नया जल मिलावे। इस प्रकार घीको सौ बार धोनेसे **शतधौतघृत** और हजारबार धोनेसे **सहस्रधौतघृत** तैयार होता है। **शतधौतघृत** लगाने और मरहम तैयार करनेके काममें आता है।

चूर्णोदककल्पना—

रक्तिद्वयोन्मितं चूर्णं पञ्चतोलकसंमिते ।
जले विनिक्षिपेत् प्राज्ञस्त्रियामं स्थापयेद्बुधः ॥ ११५ ॥
ततः सारकपत्रेण सारयेत् काचपात्रके ।
चूर्णोदकमिति ख्यातं तथैव च सुधोदकम् ॥ ११६ ॥
चूर्णोदकं दृढहरित्काचकुप्यां निधापयेत् ।
(रसतरङ्गिणी त. ११)

दो रत्ती अच्छा सूखा कलीका चूना ले, उसको पाँच तोला जलभरी हुई हरे रंगके काँचकी शीशीमें डाल, शीशीके मुँहपर हरे रंगके काँचकी डाट लगा, खूब हिलाकर ठण्ढी जगहमें ९ घंटा रख छोड़े । बीच-बीचमें शीशीको २-३ बार हिलावे । ९ घंटेके बाद एक काँचके गिलासपर फिल्टर पेपर रख, उसपर चूनेका निथारा हुआ जल गेरकर छान ले । बाद उस जलको अच्छी तरह धोई हुई हरे रंगके काँचकी शीशीमें हरे रंगके काँचकी डाट लगाकर रख छोड़े । इसे चूर्णोदक या सुधोदक कहते हैं । इस विधिके अनुसार जितना आवश्यक हो उतना चूर्णोदक एक साथ तैयार कर सकते हैं ॥ ११५ ॥ ११६ ॥—

वक्तव्य—चूर्णोदककी मात्रा, आमयिक प्रयोग आदि रसतरङ्गिणीके ११ वें तरङ्गमें देखें ।

तुत्थद्रवकल्पना—

द्विगुञ्जतश्चतुर्गुञ्जं तुत्थकं निर्मलीकृतम् ॥ ११७ ॥
परिस्रुते तु सलिले पञ्चतोलकसंमिते ।
निक्षिपेदथ विज्ञाय तुत्थकं सर्वथा द्रुतम् ॥ ११८ ॥
तुत्थद्रवं प्रयुञ्जीत रसतन्त्रविशारदः ।
(रसतरङ्गिणी त. २१)

एक धोये हुए स्वच्छ काँचके पात्रमें पाँच तोला परिस्रुत जल डालकर उसमें दोसे चार रत्ती साफ किया हुआ नीलाथोथा मिलावे । जब सब नीलाथोथा जलमें मिल जाय तब उसको धोई हुई स्वच्छ काँचकी शीशीमें फिल्टर पेपरसे छान कर शीशीके मुँहको काँचकी डाटसे बन्द कर रख दे । इसको तुत्थद्रव कहते हैं ॥ ११७ ॥ ११८ ॥—

वक्तव्य—नीले थोथेको साफ करनेकी विधि और तुत्थद्रवका आमयिक प्रयोग रसतरङ्गिणीके २१ वें तरङ्गमें देखें ।

स्फटिकाद्रवकल्पना—

स्फटिकां तोलकमितां पञ्चाशत्तोलकोन्मिते ॥ ११९ ॥
जले विद्राव्य युञ्जीत (र. त., त. ११) ॥

एक तोले फिटकिरीके चूर्णको एक धोये हुए काँचके पात्रमें पचास तोले परिस्रुत जलमें गला, स्वच्छ कपड़े या फिल्टर पेपरसे दूसरे काँचके पात्रमें छान, काँचकी शीशीमें भर, काँचकी डाट लगाकर रख छोड़े। इसको **स्फटिकाद्रव** कहते हैं ॥११९॥

परिस्रुतजलकल्पना—

यन्त्रेण नलिकाख्येन वह्निसंतापयोगतः ।
बिन्दुशो यत् स्रुतं नीरं तत् परिस्रुतमुच्यते ॥ १२० ॥
(र. त., त. २)

नलिकायन्त्र(भबके)में स्वच्छ जल भर, यन्त्रको आगपर चढ़ाकर स्वच्छ काँचके पात्रमें खिंचे हुए अर्कको **परिस्रुतजल** कहते हैं ॥ १२० ॥

गुलकन्द बनानेकी विधि—

अच्छे कलईदार पीतल, एनामल या चीनी मिट्टीके बरतनमें गुलाब, सेवती, अमलतास आदिके ताजे फूलोंको बराबर वजनकी शक्करके साथ मिला, पात्रके ऊपर दोहरा मजबूत कपड़ा बाँधकर २०-४० दिनतक धूपमें रखें। इसको **गुलकंद** कहते हैं। गुलकन्द यह फारसी नाम है। गुल=पुष्प, कन्द=शक्कर। इसका संस्कृतभाषामें **पुष्पखण्ड** नाम रखना उचित है।

मसीकल्पना—

औषधद्रव्योंको इस प्रकार जलावे कि उसके कोयले बनें, राख न बने। कोयले बनानेकी अच्छी विधि यह है—जिस औषधका कोयला बनाना हो उसको सँकरे मुँहके मिट्टीके घड़ेमें डाल, घड़ेके मुँहपर उतना ही चौड़ा मिट्टीका सकोरा रख, सन्धिस्थानपर कपड़मिट्टी करके आगपर चढ़ावे। जब सन्धिस्थानसे धुआँ निकलना बन्द हो जाय तब नीचे उतार, पीस, कपड़छान करके रख ले। इसको **मसी** कहते हैं। यदि खुले स्थानमें जलाया जावे और सफेद राख बने तो उसको **क्षार** कहते हैं। "कृष्णस्य सर्पस्य **मसी** सुदग्धा" (सु. चि. अ. ९) इसकी व्याख्यामें **डल्हण** लिखते हैं कि—"कृष्णसर्पो दह्यमानो यदाऽतिकृष्णत्वं गच्छति तदा तच्चूर्णं **'मसी'** इत्युच्यते, स एव यदाऽतिदह्यमानो शुक्लत्वं याति तदा **'क्षार'** इत्युच्यते"।

कज्जलकल्पना—

एक सकोरेमें घी या तेलमें रूईकी बत्ती रख, उसको जला, ३-४ अंगुल ऊपर दो ईंटोंपर मिट्टी या लोहेका तवा रखकर उसमें धुआँ इकट्ठा करे, इसको **कज्जल** (काजल) कहते हैं। इसमें घी, कपूर आदि मिलाकर नेत्रमें लगानेके लिये अञ्जन बनाया जाता है।

शङ्खद्राव(द्रावकाम्ल)कल्पना—

लवण, फिटकिरी, सोरा, नौसादर, कसीस, सुहागा, जौखार, सज्जीखार आदि लवण और क्षारद्रव्योंको काँचके नलिकायन्त्रमें (काचनिर्मित तिर्यक्पातनयन्त्र glass-retort ग्लास रिटॉर्ट) में रख, यन्त्रकी सन्धिको कपड़मिट्टी करके आगपर चढ़ावे। नलिकायन्त्रकी तिरछी नलीका मुँह दूसरे जलभरे पात्रमें रखी हुई काँचकी शीशीके मुँहमें लगाकर यन्त्रके नीचे मंदी आँच दे । तिरछी नलीके मुँहसे टपककर द्रावकाम्ल शीशीमें इकट्ठा होगा। जब द्रावकाम्ल आना बन्द हो जाय तब अग्नि देना बन्द करे। इसको **शङ्खद्राव** या **द्रावकाम्ल** कहते हैं।

वक्तव्य—द्रावकाम्लोंका विधान प्राचीन ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आता। **भैषज्यरत्नावली, रसतरङ्गिणी** आदि नवीन ग्रन्थोंमें शङ्खद्रावके कई योग लिखे हैं। यह कल्पना दक्षिण भारतके सिद्धसंप्रदाय या यूनानीवैद्यकसे ली है ऐसा मालूम होता है। यूनानी वैद्यकमें इसको **तेजाब** (फा०) अर्थात् **तीक्ष्णजल** कहते हैं। शङ्खद्राव बनानेके लिये काँचके बने हुए अच्छे रिटॉर्ट बड़े शहरोंमें विलायती दवा बेचनेवालोंके यहाँ मिलते हैं, उनको काममें लेना अच्छा है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे भेषजकल्पनाविज्ञानीयाध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥

अनुक्त-लेशोक्त-परिभाषाविज्ञानीयाध्यायस्तृतीयः ।

अथातोऽनुक्त-लेशोक्त-परिभाषाविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोचुरात्रेयधन्वन्तरिप्रभृतयः ॥ १ ॥

अनुक्त-विशेषानुक्त-ग्रहणपरिभाषा—

कालेऽनुक्ते प्रभातं स्यादङ्गेऽनुक्ते जटा भवेत् ।
अतिस्थूलजटा याः स्युस्तासां ग्राह्यास्त्वचो बुधैः ॥ २ ॥
गृह्णीयात् सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान् ।
निर्देशः श्रूयते तन्त्रे द्रव्याणां यत्र यादृशः ॥ ३ ॥
तादृशः संविधातव्यः शास्त्राभावे प्रचारतः ।
न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्याः, सारः स्याद्बीजकादितः ॥ ४ ॥
तालीसादेश्च पत्राणि, फलं स्यात्त्रिफलादितः ।
धातक्यादेश्च पुष्पाणि, स्नुह्यादेः क्षीरमाहरेत् ॥ ५ ॥

---

१ 'प्रसिद्धितः' इति पा० ।

शाखां गुडूचिकादेस्तु, निर्यासं रामठादितः ।
यस्मिन्नङ्गे तु द्रव्याणां वीर्यं भवति चाधिकम् ।
तदेवाङ्गं प्रयुञ्जीत मतं तत्त्वविदामिदम् ॥ ६ ॥
भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात्, पात्रेऽनुक्ते च मृन्मयम् ।
द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यं, तैलेऽनुक्ते तिलोद्भवम् ॥ ७ ॥
सैन्धवं लवणे ग्राह्यं, सर्षपे श्वेतसर्षपः ।
क्षीरे दध्नि घृते मूत्रे पुरीषे गव्यमिष्यते ॥ ८ ॥
चूर्ण-लेहासव-स्नेहाः साध्या धवलचन्दनैः ।
कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥ ९ ॥

जहाँ औषधभक्षण आदिका समय न बताया गया हो वहाँ प्रातःकाल समझना चाहिये । जहाँ ओषधिका अंग (मूल, पत्र, पुष्प, फल, त्वचा आदिमेंसे कौनसा लेना ? यह) न बताया हो वहाँ मूल लेना चाहिये । जो जड़ें अति स्थूल–मोटी हों उन जड़ोंकी छाल लेनी चाहिये और जो जड़ें सूक्ष्म–बारीक हों वे सब लेनी चाहिये । कई व्याख्याकार इस श्लोकका "जिन ओषधियोंकी जड़ें अधिक मोटी हों उनकी केवल छाल लेनी चाहिये और जिनकी जड़ें पतली हों उनके कुल अंग (पञ्चाङ्ग) लेने चाहिये" ऐसा अर्थ करते हैं । शास्त्रमें जिस योगमें ओषधिका कोई खास अंग लेनेका निर्देश हो वहाँ उस खास अंगका ही ग्रहण करे । परन्तु यदि शास्त्रमें किसी विशेष अंगके लेनेका उल्लेख न हो वहाँ वैद्योंमें वृद्धपरम्परासे जिस औषधके जिस अंगके लेनेका प्रचार हो उस औषधके उस अंगका ग्रहण करे । जैसे बड़–नीम आदि वृक्षोंकी छाल लेनी चाहिये । बिजयसार, चंदन आदि वृक्षोंका सार-हीर (मध्यका ठोस काष्ठ) लेना चाहिये । तालीस आदिके पत्र लेने चाहिये । त्रिफला आदिका फल लेना चाहिये । धाय-गुलाब आदिका फूल लेना चाहिये । थूहर आदिका दूध लेना चाहिये । गिलोय आदिकी शाखा लेनी चाहिये । हींग, गूगल आदिका निर्यास लेना चाहिये । द्रव्यके मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि जिस अंगमें वीर्य (सारभाग) अधिक प्रमाणमें हो उस अंगका औषधके लिये प्रयोग करना चाहिये, यह द्रव्यतत्त्वज्ञोंका मत है । जहाँ द्रव्योंका भाग (कौन द्रव्य कितने प्रमाणमें लेना यह) न बताया गया हो वहाँ सब द्रव्य समान भाग लेने चाहिये । जहाँ पात्रका (क्वाथ आदि किस पात्रमें बनाये या रखे जाँय इसका) निर्देश

---

१ यहाँ लिखे हुए न्यग्रोधादि, बीजकादि, तालीसादि, त्रिफलादि, धातक्यादि, स्नुह्यादि, गुडूच्यादि और रामठादि ये कोई शास्त्रोक्त गण नहीं हैं । अतः 'न्यग्रोधादि' आदि पदोंमें 'आदि'शब्दसे 'न्यग्रोध जैसे वृक्ष जिनकी छाल लेनेका वैद्योंमें प्रचार है' यह 'आदि'पदका अर्थ लेना चाहिये । ऐसा ही बीजकादि पदोंमें भी 'आदि'शब्दका अर्थ समझना चाहिये ।

न हो वहाँ मिट्टीका पात्र लेना चाहिये। जहाँ गोली-अवलेह आदि योग बनानेमें द्रव पदार्थ न लिखा हो वहाँ जल लेना चाहिये। जहाँ तैलका विशेष निर्देश न किया गया हो वहाँ 'तैल' शब्दसे तिलका तैल लेना चाहिये। जहाँ लवणका विशेष निर्देश न हो वहाँ 'लवण' शब्दसे सैन्धव लेना चाहिये। जहाँ सरसोंका विशेष निर्देश न हो वहाँ 'सर्षप' शब्दसे सफेद सरसों लेनी चाहिये। जहाँ दूध, दही, घृत, मूत्र और पुरीष (मल) अमुक प्राणीके लेनेका उल्लेख न हो वहाँ वे गौके लेने चाहिये। जहाँ चन्दनका विशेष न लिखा हो वहाँ 'चन्दन'शब्दसे चूर्ण, अवलेह, आसव और स्नेह बनानेमें श्वेतचन्दन तथा क्वाथ और लेपमें प्रायः रक्तचन्दन लेना चाहिये॥ २-९॥

द्विरुक्तद्रव्यमानग्रहणपरिभाषा—

एकमेवौषधं योगे यस्मिन् यत् पुनरुच्यते।
मानतो द्विगुणं ग्राह्यं तद्द्रव्यं तत्त्वदर्शिभिः॥ १०॥

जिस योगमें एक ही औषधका दोवार नाम लिखा हो वहाँ उसको दूने परिमाणमें लेना चाहिये[1]॥ १०॥

योगनामकरणपरिभाषा—

यदौषधं तु प्रथमं यस्य योगस्य कथ्यते।
तन्नामादिः स योगो हि कथ्यतेऽत्र विनिश्चयः॥ ११॥
निर्मातुरथवा नाम्ना, सादृश्यात्, कल्पतस्तथा।
प्रधानद्रव्ययोगाद्वा, कर्मयोगादथाऽपि वा॥ १२॥

जिस योगके आदिमें जो औषध निर्दिष्ट हो उसीके नामको आदिमें लगाकर उस योगका नाम रखा जाता है। जैसे-**गुडूच्यादि क्वाथ, चन्दनादि तैल, चित्रकादि वटी** आदि। इन योगोंके द्रव्योंमें गुडूची, चन्दन और चित्रकका नाम आदिमें आया है, अतः उनके वैसे नाम रखे गये हैं। अथवा उस योगके प्रथम निर्माताके नामसे योगका नाम रखा जाता है। जैसे-**अगस्त्यहरीतकी, च्यवनप्राशावलेह, नागार्जुनाभ्र, काङ्कायनवटी** आदि। इन योगोंको अगस्त्य, च्यवन, नागार्जुन और कांकायनने सर्व प्रथम बनाया था, अतः उनके वैसे नाम रखे गये हैं। अथवा सादृश्यसे योगका नाम रखा जाता है। जैसे-**रसकर्पूर** (कर्पूरके सदृश रस), **रसपर्पटी** (पपड़ीके सदृश रस) आदि। अथवा उसके कल्पसे उसका नाम रखा जाता है। जैसे-**ब्राह्मीस्वरस, वचाचूर्ण** आदि। अथवा उस योगमें जो द्रव्य प्रधान हो उसके नामसे योगका नाम रखा जाता है। जैसे-**द्राक्षारिष्ट, कुट-**

---

[1] जहाँ एक ही नामसे औषध दोवार लिखा गया हो वहाँ ही दूना प्रमाण लेना उचित है। परन्तु जहाँ पर्यायान्तरसे उल्लेख हो वहाँ वह पर्यायनाम दूसरे द्रव्यका वाचक हो तो दूसरा द्रव्य ही लेना चाहिये।

ज्ञावलेह आदि । अथवा योगोंके कर्मोंसे उनके नाम रखे जाते हैं । जैसे रोपण तैल, लेखनी वर्ति, चातुर्थिकारि रस आदि । योगोंके नाम रखनेकी ये शास्त्रीय पद्धतियाँ हैं । इनके विपरीत रसग्रन्थोंमें लक्ष्मीविलास, वसन्तकुसुमाकर, शृङ्गाराभ्र आदि जो नाम रखे गये हैं उनको ग्रन्थकारोंके संकेतमात्र कह सकते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

पारिभाषिक्यः संज्ञाः (लेशोक्तपरिभाषाः) ।

यमक-त्रिवृत-महास्नेहाः—

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान् ॥ १३ ॥
(वा. सू. अ. १६) ।

घृत, तैल, वसा (चरबी) और मज्जा ये चार सब स्नेहोंमें (स्निग्ध द्रव्योंमें) उत्तम–प्रधान हैं । इन चारोंमेंसे कोई भी दो स्नेह मिले हुए हों तो उनको **यमक**, तीन मिले हुए हों तो उनको **त्रिवृत** और चार मिले हुए हों तो उनको **महास्नेह** कहते हैं ॥ १३ ॥

क्षीराष्टकम्—

गव्यं माहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम् ।
ऐभमैकशफं चेति क्षीराष्टकमिहोच्यते ॥ १४ ॥

गाय, भैंस, बकरी, ऊँटनी, स्त्री, भेड़, हथनी और एकखुरवाली मादा (घोड़ी-गधी) इनके क्षीरों(दूध)को **क्षीराष्टक** (या क्षीरवर्ग) कहते हैं । चिकित्सामें विशेषतः इन प्राणियोंके दूधका उपयोग होता है ॥ १४ ॥

मूत्राष्टकम्—

मूत्रैर्गोजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवैः ।
मूत्राष्टकमिति प्रोक्तं मूत्रवर्गस्तथैव च ॥ १५ ॥

गाय, बकरी, भेड़, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊँट और गधा इन आठ प्राणियोंके मूत्रको **मूत्राष्टक** या **मूत्रवर्ग** कहते हैं । गाय, बकरी, भेड़ और भैंस इन चारकी मादाका और हाथी, घोड़ा, ऊँट और गधा इन चारके नरका मूत्र चिकित्साके लिये लिया जाता है ॥ १५ ॥

अरुग्णानां वयःस्थानां चर्मरोमनखादिकम् ।
क्षीर-मूत्र-पुरीषाणि जीर्णाहारे समाहरेत् ॥ १६ ॥

रोगरहित और युवावस्थाके प्राणियोंके ही चमड़ा, रोम, नख, सींग आदि लेने चाहिये । ऐसे प्राणियोंके ही दूध, मूत्र और मल (गोबर-लीद) उनका खाया हुआ आहार जीर्ण होनेपर लेने चाहिये ॥ १६ ॥

पञ्चगव्य-पञ्चाज-पञ्चमाहिषाणि—

पञ्चगव्यं दधि-क्षीर-घृत-गोमूत्र-गोमयैः ।
एवमेव विजानीयात् पञ्चाजं पञ्चमाहिषम् ॥ १७ ॥

गायके मिले हुए दही, दूध, घृत, मूत्र और गोबरको **पञ्चगव्य**; बकरीके मिले हुए दही, दूध, घी, मूत्र और मिंगनी(लेंडी)को **पञ्चाज**; और भैंसके मिले हुए दूध, दही, घी, मूत्र तथा गोबरको **पञ्चमाहिष** कहते हैं ॥ १७ ॥

मधुरत्रयम्—

खण्डं गुडो माक्षिकं च विज्ञेयं मधुरत्रयम् ।

मिले हुऐ खाँड (चीनी), गुड़ और शहदको **मधुरत्रय** कहते हैं ॥—

त्रिफला—

पथ्या-बिभीत-धात्रीणां फलैः स्यात्त्रिफला[1] वरा ॥ १८ ॥

मिले हुए हरड़, बहेड़ा और आँवला तीनोंको **त्रिफला** या **वरा** कहते हैं ॥ १८ ॥

त्रिकटु-त्र्यूषणम्—

पिप्पली शृङ्गवेरं च मरिचं त्र्यूषणं विदुः ।
कटुत्रिकं त्रिकटुकं कथितं व्योषमित्यपि ॥ १९ ॥

मिले हुए पीपल, सोंठ और काली मिर्चको **त्र्यूषण, कटुत्रिक, त्रिकटु** या **व्योष** कहते हैं ॥ १९ ॥

चतुरूषणम्—

सत्र्यूषणं कणामूलं कथितं चतुरूषणम् ।

मिले हुए सोंठ, पीपल, काली मिर्च और पिपलामूलको **चतुरूषण** कहते हैं ॥—

पञ्चकोलम्—

पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-नागरैः ॥ २० ॥
पञ्चकोलमिदं प्राहुः पञ्चोषणमथापरे ।

मिले हुए पीपल, पीपलामूल, चवक, चित्रक और सोंठको **पञ्चकोल** या **पञ्चोषण** कहते हैं ॥ २० ॥—

षडूषणम्—

पञ्चकोलं समरिचं षडूषणमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

---

१ परिभाषाप्रदीपमें दो प्रकारकी त्रिफला लिखी है—"पथ्या बिभीतकं धात्री महती त्रिफला मता । स्वल्पा काश्मर्य-खर्जूर-परूषकफलैर्भवेत् ॥"—मिले हुए हरड, बहेड़ा और आँवलाको **महती** (बड़ी) त्रिफला; तथा मिले हुए गंभारी, खर्जूर और फालसाके फलोंको **स्वल्पा** (छोटी) त्रिफला कहते हैं ।

ऊपर लिखे हुए पञ्चकोलमें काली मिर्च मिलानेसे षडूषण कहलाता है ॥ २१ ॥

त्रिमदम्—

विडङ्ग-मुस्त-चित्रैश्च त्रिमदं समुदाहृतम् ।

मिले हुए बायविडंग, नागरमोथा और चित्रकको **त्रिमद** कहते हैं ॥—

चातुर्जातम्—

चातुर्जातं समाख्यातं त्वगेला-पत्र-केशरैः ॥ २२ ॥

मिले हुए दालचीनी, इलायची, तेजपात और नागकेशरको **चातुर्जात** कहते हैं ॥ २२ ॥

त्रिजातम्—

तदेव त्रिसुगन्धि स्यात्त्रिजातकमकेशरम् ।

मिले हुए दालचीनी, इलायची और तेजपातको **त्रिसुगन्धि** या **त्रिजात** कहते हैं ॥—

चतुर्बीजम्—

मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाजाजी यवानिका ॥ २३ ॥
एतच्चतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम् ।

मिले हुए मेथी, हालिम—चंसूर, कलौंजी (मँगरैला) और अजवायन इनको **चतुर्बीज** (चार दाना) कहते हैं ॥ २३ ॥

दशमूलम्—

बिल्व-श्योनाक-गाम्भारी-पाटला-गणिकारिकाः ॥ २४ ॥
एतन्महत्पञ्चमूलं संज्ञया समुदाहृतम् ।
शालपर्णी-पृश्निपर्णी-बृहतीद्वय-गोक्षुरैः ॥ २५ ॥
कनीयः पञ्चमूलं स्यादुभयं दशमूलकम् ।

मिले हुए बेल, सोनापाठा, पाढ़ल, गम्भारी और अरनी (गनियारी) इन पाँचोंके मूलोंको **बृहत्पञ्चमूल** कहते हैं । मिले हुए सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी (भटकटैया), बड़ी कटेली (बरहंटा) और गोखरू इन पाँचोंके मूलोंको **लघुपञ्चमूल** कहते हैं । बृहत्पञ्चमूल और लघुपञ्चमूल दोनों मिलकर **दशमूल** कहलाता है ॥ २४ ॥ २५ ॥—

तृणपञ्चमूलम्—

कुशः काशः शरो दर्भ इक्षुश्चेति तृणोद्भवम् ॥ २६ ॥

मिले हुए कुश, काँस, सरकँडा, डाभ और गन्नेके मूलोंको **तृणपञ्चमूल** कहते हैं ॥ २६ ॥

विदारी-सारिवा-रजनी-गुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः ॥ २७ ॥

विदारीकंद, अनन्तमूल, हल्दी, गिलोय और उतरण मिलकर वल्लीपञ्चमूल गण कहलाता है ॥ २७ ॥

करमर्द-त्रिकण्टक-सैरेयक-शतावरी-गृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः ॥२८

करौंदी, गोखरू, कटसरैया (पियाबाँसा), शतावर और गृध्रनखी मिल कर कण्टकपञ्चमूल गण होता है ॥ २८ ॥

त्रिगन्धकम्—

गन्ध-ताल-शिलाभिस्तु त्रिगन्धकमुदीरितम् ।

मिले हुए गन्धक, हरताल और मैनसीलको त्रिगन्धक कहते हैं ।—

क्षारत्रयम्—

क्षारत्रयं समाख्यातं याव-सर्जिक-टङ्कणम् ॥ २९ ॥

मिले हुए जौखार, सज्जीखार और सुहागेको क्षारत्रय कहते हैं ॥ २९ ॥

क्षारद्वयम्—

सर्जिका यावशूकश्च क्षारद्वयमुदीरितम् ।

मिले हुए सज्जीखार और जौखारको क्षारद्वय कहते हैं ॥—

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चलवणानि—

सिन्धु सौवर्चलं चैव विडं सामुद्रकं गडम् ॥ ३० ॥
एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चलवणानि क्रमाद्विदुः ।

केवल 'लवण' शब्दसे सेन्धा नमक, द्विलवणसे सेन्धा नमक और सोंचर (काला नमक), त्रिलवणसे सेन्धा नमक, सोंचर और नौसादर, चतुर्लवणसे सेन्धानमक, सोंचर, नौसादर और सामुद्र लवण तथा लवणपञ्चक(या पञ्चलवण)से पूर्वोक्त चार और सांभर नमक ये पाँचों लिये जाते हैं ॥ ३० ॥—

क्षीरिवृक्षाः, पञ्चवल्कलं च—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-पारीष-प्लक्षपादपाः ॥ ३१ ॥
पञ्च ते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक् पञ्चवल्कलम् ।

बड, गूलर, पीपल, पारिसपीपल और पाकर इन पाँच वृक्षोंको क्षीरीवृक्ष और उनकी छालको पञ्चवल्कल कहते हैं ॥ ३१ ॥—

आम्र-जम्बुकपित्थानां बीजपूरक-बिल्वयोः ॥ ३२ ॥
गन्धकर्मणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम् ॥

---

१ नौसादर मल-मूत्रसे बनता है इसलिये उसको विडलवण कहते हैं।

मिले हुए आम, जामुन, कैथ, बिजौरा और बेल इनके पत्तोंको पञ्चपल्लव कहते हैं ॥ ३२ ॥—

उपविषाणि—

वज्रार्क-हेम-हलिनी-हयारि-विषमुष्टयः ॥ ३३ ॥
एतान्युपविषाण्याहुस्तथा गुञ्जाहिफेनकौ ।

थूहर, आक-मदार, धतूरा, कलिहा(या)री, कनेर, कुचला, घुँघची और अफीम इनको उपविष कहते हैं ॥ ३३ ॥—

अष्टवर्गः—

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यावृद्धि-वृद्धिके ॥ ३४ ॥
अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः ।

जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, कालोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि और वृद्धि ये आठ द्रव्य मिलकर अष्टवर्ग कहलाता है ॥ ३४ ॥—

अष्टवर्गश्च पर्णिन्यौ जीवन्ती मधुकं तथा ॥ ३५ ॥
जीवनीयगणः प्रोक्तो जीवनश्च तथैव हि ।

ऊपर लिखा हुआ अष्टवर्ग, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलेठी मिलकर **जीवनीय या जीवन गण** कहलाता है ॥ ३५ ॥—

गणोक्तद्रव्यग्रहणपरिभाषा—

समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथाऽपि वा ॥ ३६ ॥
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ।
(सु. सू. अ. ३१)

गणोक्तमपि यद्द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम् ॥ ३७ ॥
तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदप्यकीर्तितम् । (सु. चि. अ. १)
त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः ॥ ३८ ॥
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम् ।
(अ. हृ. सू. अ. १५)।

अत्र वर्गशब्देन प्रकरणात् 'समानक्रियाणां समूह' उच्यते । तेनात्रैवाध्याये प्रायेण समानकार्या ये वर्गा उक्तास्तेष्वेवेयं परिभाषा । यत्र तु संयोगशक्त्या प्रयोगोपदर्शनं न तत्रार्धवर्गादिप्रयोगः, संयोगशक्तेरन्यतरसंयोग्यपनयेनाप्यपार्थकत्वात्; नहि पानीयकल्याणघृतादौ यथालाभं प्रयोगो भवति । यत्र तु समानवीर्यतया एकत्र प्रयोगो गणोक्तेषु द्रव्येषु भवति, तत्रान्यतरापायेऽपि तच्छक्तीनां द्रव्याणां प्रयोगोऽर्थसाधको भवत्येव । एतद्द्रव्यसमूहानां तुल्यवीर्यतया वा प्रयोगं संयोगशक्त्या वा प्रयोगं विवेकेन ज्ञातुमुक्तं—भिषक् प्राज्ञ इति । अत्र च यथर्थ-

वर्गप्रयोगो यथालाभं प्रयोगोऽपि समस्तवर्गप्रयोगतुल्यतयोक्तः, तथाऽपि समस्तप्रयोगस्यैव महाफलत्वं ज्ञेयं, तस्यैव बहुद्रव्यशक्तियोगेन महागुणत्वात्; समस्तालाभेऽर्धवर्गादिप्रयोगश्चिरेणाल्पसाधको ज्ञेयः । अन्यथा यदि तुल्यफलत्वं स्यात् सर्वस्यार्धादिभिः समं, तदा बहुप्रयाससाध्यं सर्वमर्धवर्गादावल्पप्रयाससाध्ये समानफले सति को बालिश उपदिशेदनुतिष्ठेद्वा । तस्मात् सर्वालाभेऽर्धादिविधानमेतत् (च. द.) । एषु च त्रयस्त्रिंशत्सु वर्गेषु, अलाभतः अलाभे सति, तद्विधं रसवीर्यविपाकैस्तुल्यं, द्रव्यमन्यत् अनुक्तमपि युञ्ज्यात् । न केवलमेतावदेव विधेयमित्याह—जह्यादयौगिकं; न केवलमेषु वर्गेषु तद्व्यालाभे यथालाभमन्यत्तद्विधं द्रव्यं युञ्ज्यात्, यावदयौगिकं यद्द्रव्यं तच्च त्यजेत् (अ. द.) ॥

शास्त्रमें द्रव्योंके गणोंके जो कर्म लिखे हैं उन कर्मोंके लिये जिस गणका प्रयोग करना हो उस समस्त गणका, आधे गणका या उस गणके दोसे अधिक जितने द्रव्य मिलें उनका प्रयोग करना चाहिये । गणमें लिखा हुआ कोई द्रव्य जिस रोगीके लिये उस गणका प्रयोग करना है उसके लिये यदि अयुक्त मालूम हो तो उस द्रव्यको निकालकर उस गणका प्रयोग करे और यदि कोई द्रव्य गणमें न लिखा हो परन्तु जिस रोगीके लिये उस गणका प्रयोग करना है उसके लिये उपयुक्त मालूम हो तो उस द्रव्यको मिलाकर उस गणका प्रयोग करे । यदि गणोक्त द्रव्योंमेंसे कोई द्रव्य न मिले तो उस द्रव्यके अभावमें उसके समान रस, वीर्य, विपाक और कर्मवाला अन्य द्रव्य निश्चित करके डाले ॥ ३६–३८ ॥—

वक्तव्य—इस संदर्भकी व्याख्यामें **चक्रपाणिदत्त** लिखते हैं कि—समानकर्मवाले अनेक द्रव्योंके समूहको **गण** या **वर्ग** कहते हैं । शास्त्रमें समानकर्मवाले द्रव्योंके **जीवनीय, विदारिगन्धादि** आदि जो वर्ग कहे हैं उनके लिये यह परिभाषा है । संयोगशक्तिसे कार्य करनेवाले जो योग हैं वहाँ यह परिभाषा लागू नहीं होती । क्योंकि ऐसे योगोंमें एक-दो द्रव्य निकाल देनेसे वह योग ठीक काम नहीं दे सकता । इसलिये **पानीयकल्याणघृत** आदि योगोंमें इस (जितने मिलें इतने द्रव्योंसे काम लेनेकी) परिभाषासे काम न लेना चाहिये । जहाँ समानकर्मवाले द्रव्योंका गण बनाकर योग लिखा हो वहाँ एकाध द्रव्य निकाल देनेपर भी वह योग कार्यसाधक होता है । यहाँ यद्यपि आधे वर्गके या उस वर्गके मिलें उतने द्रव्योंके प्रयोगको तुल्यफलवाला लिखा है, तथापि समस्त वर्गका प्रयोग ही पूरा फल देनेवाला और आधे या यथालाभवर्गका प्रयोग कम और दीर्घकालसे फल देनेवाला होता है । इसलिये समस्त गणके न मिलनेपर ही आधे या मिलें उतने द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये ॥

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे अनुक्त-लेशोक्त-परिभाषाविज्ञानीयाध्यायस्तृतीयः॥ ३ ॥

रसतन्त्रीयपरिभाषाविज्ञानीयाध्यायश्चतुर्थः ।

अथातो रसतन्त्रीयपरिभाषाविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोचुः सोमदेवाद्यो रससिद्धाः ॥ १ ॥

कज्जलीकल्पना—

गन्धेन धातुभिश्चैव सगन्धैर्मर्दितो रसः ।
निर्द्रवः कज्जलाभोऽसौ कज्जलीत्यभिधीयते ॥ २ ॥

पारदको गन्धकके साथ अथवा प्रथम पारदमें सुवर्णादि धातुओंका सूक्ष्म चूर्ण या वरक मिलाकर पीछे गन्धकके साथ विना कोई द्रव मिलाए सूखा ही पत्थर या लोहेके खरलमें मर्दन करनेसे जो काजलके समान काले रंगका पदार्थ बनता है उसे **कज्जली** कहते हैं ॥ २ ॥

वक्तव्य—कज्जली बनाते समय उसमें थोडा जल डालकर घोटना चाहिये । इससे मिश्रण ठीक बनाता है । कज्जलीमें पारदके कण बिलकुल दीखें नहीं इतना घोटना चाहिये । कज्जलीमें यदि पारदके कण छुटे—अमिश्रित होंगे तो उसको सोनेपर रगडनेसे सोनेपर चांदी जैसे दाग पडेंगे ।

पर्पटीलक्षणम्—

संद्राविता कज्जलिकाऽग्नियोगाद्रम्भापलाशे चिपिटीकृता च ।
रसागमज्ञैः खलु पर्पटी सा प्रकीर्तिता पर्पटिका च सैव ॥ ३ ॥

(रसतरङ्गिणी, अ. ३)

लोहके तवेपर बालू बिछा, बालूपर अंदर घी पोती हुई लोहेकी छोटी कडाही रख, कडाहीमें कज्जली डालकर उसको अग्निपर रखे । जब सारी कज्जली पिघल जाय तब उसको जमीनपर गोबर बिछा, उसपर केलेका अखंड पता रखकर ढाल दे । तुरत ही ऊपर दूसरा केलेका पता रखकर उसपर गोबर फैला दे । स्वाङ्गशीतल होनेपर निकाल ले । इसको **पर्पटी** कहते हैं ॥ ३ ॥

हिङ्गुलाकृष्टरसकल्पना—

दरदं निम्बुनीरेण मर्दयित्वा विशोष्य च ।
यन्त्रे विद्याधरे दत्वा तिर्यक्पातनकेऽथवा ॥ ४ ॥
समाकृष्टो रसो योऽसौ हिङ्गुलाकृष्ट उच्यते ।
यन्त्रं विद्याधरं ज्ञेयं पात्रद्वितयसंपुटात् ॥ ५ ॥
क्षिपेद्रसं घटे दीर्घे नताधोनालसंयुते ।
तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु ॥ ६ ॥
इतरस्मिन् घटे तोयं प्रक्षिपेत् स्वादुशीतलम् ।
अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्रपावकम् ॥ ७ ॥
तिर्यक्पातनमेतद्धि रसज्ञैरभिधीयते ।

हिङ्गुलको कागजी नीबूके रसमें एक प्रहर घोट, सुखा, विद्याधरयन्त्र या तिर्यक्पातनयन्त्रमें रख, नीचे अग्नि देकर उससे पारा उडा ले । इस प्रकार हिङ्गुलसे निकाले हुए पारदको हिङ्गुलाकृष्ट रस कहते हैं ।

विद्याधर यन्त्र—समान मुखवाले दो मिट्टीके पात्र ले, नीचेके पात्रमें हिङ्गुल रख, ऊपर दूसरा[1] पात्र दे, दोनों पात्रोंकी सन्धिमें सात कपड़मिट्टी करे। कपड़मिट्टी सूखने पर यन्त्रको अग्निपर चढ़ावे और ऊपरके पात्रपर जलमें भिगोया हुआ कपड़ा रखकर उसे ठंढा रखे। कपड़ा जैसे जैसे गरम होता जाय वैसे वैसे बदलता रहे या उस पर दूसरा ठंढा जल डालता रहे। चार प्रहरके बाद यन्त्रको नीचे उतार कर ठंढा होने दे। बादमें कपड़मिट्टी खोलकर ऊपरके पात्रमें तथा बाजूमें लगा हुआ पारद निकाल ले। इस यन्त्रको **विद्याधरयन्त्र** कहते हैं। यदि हिंगुलसे सारा पारा न निकल आया हो—कुछ हिंगुल अवशेष हो तो इसी प्रकार फिर यन्त्र बनाकर शेष पारद निकाल ले।

तिर्यक्पातनयन्त्र—विलायतसे ७५ रतल (पौंड) पारा भरकर जो लोहेकी बोतल आती है उसे ला, उसके मुँहमें पेचदार टेढ़ी लोहेकी नली (Bent-pipe) बैठानेसे तिर्यक्पातनयन्त्र बनता है। इस यन्त्रमें (बोतलमें) हिंगुलको डाल, बोतलके मुँहपर पेचदार लोहेकी टेढ़ी नली बैठा, संधिमें कपड़मिट्टी कर, यन्त्रको बड़ी ऊंची अंगीठीमें रख, यन्त्रकी नलीको बाजूमें तिपाईपर एक पानीभरा हुआ मिट्टीका पात्र टेढ़ा रख, उसमें नली ४-५ अंगुल पानीमें डूबी रहे ऐसे रखकर कोककी तेज आँच दे। जब सारा पारा पात्रमें आजाय और नलीके मुँहसे पारा आना बन्द हो जाय, तब यन्त्रको नीचे उतार ले। मिट्टीके पात्रमें आये हुए तथा नलीमें लगे हुए सारे पारेको सावधानीसे निकाल ले ॥ ४-७ ॥—

स्वेदनलक्षणम्—

> **क्षाराम्लैरौषधैर्वाऽपि दोलायन्त्रे स्थितस्य हि ॥ ८ ॥**
> **पचनं स्वेदनाख्यं स्यान्मलशैथिल्यकारकम् ।**

पारद अथवा अन्य किसी पदार्थको क्षारका द्रव (घोल), अम्लद्रव अथवा गोमूत्र-दूध-क्वाथ आदि अन्य द्रव पदार्थके साथ दोलायन्त्र[2]में पकानेकी क्रियाको **स्वेदन** कहते हैं। स्वेदनसे पारदमें रहे हुए मल (दोष) शिथिल होते हैं तथा विषादि अन्य पदार्थोंके शरीरको हानि पहुँचानेवाले दोष दूर होते हैं ॥ ८ ॥—

वक्तव्य—पारद तथा अन्य धातु, विष आदिको उनके अंदर रहे हुए मलों-(मैल या शरीरको हानि करनेवाले दोषों)को शिथिल या दूर करनेके लिये स्वेदन किया जाता है। यद्यपि स्वेदनका उल्लेख पारदके संस्कारोंमें किया है तथापि अन्य धातु, विष आदिका भी स्वेदन किया जाता है।

मर्दनलक्षणम्—

> **उदितै[3]रौषधैः सार्धं सर्वाम्लैः काञ्जिकैरपि ॥ ९ ॥**
> **पेषणं मर्दनाख्यं स्याद्बहिर्मलविनाशनम् ।**

---

१ इस प्रकार बनाये हुए यन्त्रसे थोड़े समयमें अन्य यन्त्रोंकी अपेक्षया अधिक पारद निकलता है। २ दोलायन्त्रका लक्षण पाँचवें अध्यायमें कहा जायगा। ३ "गुडदग्धोर्णालवणैर्मन्दिरधूमेष्टिकासुरीसहितैः। रसषोडशांशमानैः सकाञ्जिकैर्मर्दनं त्रिदिनम् ॥" (र. ह. तं. अ. २)।

पारदको मर्दन संस्कारमें लिखे हुए औषध तथा किसी भी अम्ल द्रवपदार्थ या काँजीके साथ घोटनेको **मर्दन** कहते हैं । स्वेदन संस्कारसे ढीले हुए पारदके बाहरके (ऊपरी) मल मर्दन संस्कारसे दूर हो जाते हैं ॥ ९ ॥—

वक्तव्य—यद्यपि 'मर्दन' शब्दका सामान्य अर्थ **घोटना** इतना ही है, तथापि रसशास्त्रमें 'मर्दन' शब्दका प्रयोग पारदके एक विशेष संस्कारके लिये भी होता है ।

मूर्च्छनलक्षणम्—

मूर्च्छनोद्दिष्टभैषज्यैर्नष्टपिष्टत्वकारकम् ॥ १० ॥
तन्मूर्च्छनं हि [1]संप्रोक्तं सर्वदोषविनाशनम् ।

मूर्च्छन संस्कारके लिये कही हुई ओषधियोंके साथ पारदको वह नष्टपिष्ट हो जाय (पारदके कण बिलकुल दीखें नहीं) इतना घोटा जाय, इस क्रियाको **मूर्च्छन** कहते हैं । मूर्च्छन संस्कारसे पारदके सर्वदोष (मल, वह्नि और विष ये तीन दोष) नष्ट होते हैं ॥ १० ॥—

वक्तव्य—मर्दन-मूर्च्छन दोनों संस्कारोंमें पारदको अन्य द्रव्योंके साथ घोटा जाता है; परन्तु दोनों संस्कारोंमें द्रव्य भिन्न भिन्न लिये जाते हैं और मर्दनमें सामान्यरूपसे घोटा जाता है परंतु मूर्च्छनमें पारदका मूल स्वरूप नष्ट हो जाय इतना घोटा जाता है, यह दोनोंमें अन्तर है ।

उत्थापनलक्षणम्—

स्वेदातपादियोगेन स्वरूपापादनं हि यत् ॥ ११ ॥
तदुत्थापनमित्युक्तं मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम् ।

काँजीमें स्वेदन करके अथवा कड़ी धूपमें रखकर, अथवा ऊर्ध्वपातन करके अथवा गरम जलसे धोकर मूर्च्छित पारदको फिर अपने मूल (द्रव) स्वरूपमें लानेकी क्रियाको **उत्थापन** संस्कार कहते हैं ॥ ११ ॥—

पातनलक्षणम्—

[3]उक्तौषधैर्मर्दितपारदस्य यन्त्रस्थितस्योर्ध्वमधश्च तिर्यक् ।
निर्यातनं पातनसंज्ञमुक्तं वङ्गाहिसंपर्कजकञ्चुकघ्नम् ॥ १२ ॥

पातन संस्कारोंमें लिखे हुए द्रव्योंके साथ पारदको घोट, ऊर्ध्वपातन, अधःपातन या तिर्यक्पातन यन्त्रोंमें रख, नीचे या ऊपर आँच देकर पारदको जो ऊपर, नीचे या तिरछा उड़ाया जाता है उसको **पातन** संस्कार कहते हैं । पातनके ऊर्ध्वपातन, अधः

---

१ "गृहकन्या हरति मलं, त्रिफलाऽग्निं, चित्रकश्च विषम् । तस्मादेभिर्मिश्रैर्वारान् संमूर्च्छयेत सप्त ॥" (र. ह. तं. अ. २) । २ 'वार्यद्रिभूजकञ्चुकनाशनम्' इति पा० । ३ "कृत्वा तु शुल्बपिष्टिं निपात्यते नागवङ्गशङ्कातः । तस्मिन् दोषान्मुक्त्वा निपतति सूतस्तथा शुद्धः ॥" (र. ह. तं. अ. २) ।

पातन और तिर्यक्पातन ये तीन भेद हैं । नाग, वङ्ग आदि लोहों(धातुओं)के संपर्कसे पारदमें आए हुए दोष पातनसंस्कारसे नष्ट होते हैं ॥ १२ ॥

रो(बो)धनलक्षणम्—

जलसैन्धवयुक्तस्य रसस्य दिवसत्रयम् ।
स्थितिराप्यायनी कुम्भे याऽसौ रो(बो)धनमुच्यते ॥ १३ ॥

आप्यायनीति मर्दन-मूर्च्छन-पातनैः कदर्थनेन मन्दवीर्यतां गतस्य पुनर्वीर्यकर्त्रीत्यर्थः ।

मर्दन, मूर्च्छन और पातन संस्कारसे पारद मन्दवीर्य (क्षीणशक्तिवाला) हो जाता है । उसमें फिर शक्ति उत्पन्न करनेके लिये उसको मिट्टीके घड़ेमें १ भाग सेन्धा नमक और ३ भाग जलमें डाल, घड़ेका मुँह बन्द करके तीन दिन रखा जाता है, इसको **रोधन** (या **बोधन**) संस्कार कहते हैं ॥ १३ ॥

नियमनलक्षणम्—

रो(बो)धनाल्लब्धवीर्यस्य चपलत्वनिवृत्तये ।
क्रियते पारदे स्वेदः प्रोक्तं नियमनं हि तत् ॥ १४ ॥

रो(बो)धन संस्कारसे प्राप्तशक्तिवाले पारदके चपलत्वकी निवृत्तिके लिये नियमन संस्कारमें कहे हुए औषधोंके साथ जो पारदका स्वेदन किया जाता है उसको **नियमन** संस्कार कहते हैं ॥ १४ ॥

दीपनलक्षणम्—

धातुपाषाणमूलाद्यैः संयुक्तो घटमध्यगः ।
ग्रासार्थं त्रिदिनं स्वेद्यो दीपनं तन्मतं बुधैः ॥ १५ ॥

कसीस आदि धातु, सैन्धव आदि पाषाण, चित्रक आदि ओषधियों और काँजीके साथ पारदमें ग्रास ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिये जो तीन दिनतक स्वेदन किया जाता है उसको **दीपन** संस्कार कहते हैं ॥ १५ ॥

वक्तव्य—**दीपन, मुखकरण** और **बुभुक्षा** ये तीनों पर्याय (समानार्थवाचक) नाम हैं । दीपन संस्कारसे पारद बुभुक्षित होता है । जैसे बुभुक्षित–भूखा प्राणी खानेकेलिये लोलुप (लालसायुक्त) होता है और शीघ्र खा लेता है इसी प्रकार बुभुक्षित (दीपन संस्कार किया हुआ) पारद ग्रासलोलुप (पारदमें दिये हुए ग्रासको शीघ्र ग्रहण करनेवाला) होता है ।

---

१ "इति लब्धवीर्यः सम्यक् चपलोऽसौ नियम्यते तदनु । फणिलशुनाम्बुजमार्कवकर्कोटीचिञ्चिकास्वेदात् ॥" (र. हृ. तं. अ. २) । २ "भूखगटङ्कणमरिचैर्लवणासुरिशिग्रुकाञ्जिकैस्त्रिदिनम् । स्वेदेन दीपितोऽसौ ग्रासार्थी जायते सूतः ॥" (र. हृ. तं. अ. २) ।

ग्रासमानलक्षणम्—

इयन्मानस्य सूतस्य भोज्यद्रव्यात्मिका मितिः ।
इयतीत्युच्यते याऽसौ ग्रासमानं समीरितम् ॥ १६ ॥

पारद इतने प्रमाणमें सुवर्णादि धातुका क्रमशः ग्रास कर सकता है, इस प्रकार ग्रासकी मात्राका जो निर्णय करना, उसको ग्रासमान कहते हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—यद्यपि ग्रासकी मात्राके निर्णय करने मात्रसे पारदके ऊपर कोई भी संस्कार नहीं होता, तथापि 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्यायसे ग्रासमानका पारदके संस्कारोंमें उल्लेख हुआ है ऐसा जानना चाहिये ।

चारणालक्षणम्—

रसस्य जठरे ग्रासक्षेपणं चारणा मता ।

पारदमें ग्रास(सुवर्ण आदि)को मिला देनेकी क्रियाको चारणा[१] (ग्रासचारणा-पारदको ग्रास खिला देना) कहते हैं ॥—

चारणाभेदाः—

समुखा निर्मुखा चेति चारणा द्विविधा स्मृता ॥ १७ ॥

चारणाके दो भेद हैं—समुख चारणा और निर्मुख चारणा ॥ १७ ॥

समुखचारणालक्षणम्—

समुखा चारणा प्रोक्ता बीजदानेन भागतः ।
शुद्धं स्वर्णं च रूप्यं च बीजमित्यभिधीयते ॥ १८ ॥
चतुःषष्ट्यंशतो बीजप्रक्षेपो मुखमुच्यते ।
एवं कृते रसो ग्रासलोलुपो मुखवान् भवेत् ॥ १९ ॥

---

१ 'चर' गति-भक्षणयोः (गमन करना और खाना), इस धातुसे चारणा शब्द बना है । जिसका शब्दार्थ खाना या खिलाना होता है । पारद कितना ग्रास लेनेपर उसका स्वरूप कैसा रहता है इस विषयमें रसहृदयतन्त्रमें लिखा है कि–"यदि हि चतुःषष्ट्यंशं ग्रसति रसस्तदा भरेद्दण्डम् । चत्वारिंशद्भागप्रवेशतः पायसाकारः ॥ भवति जलौकाकारस्त्रिंशद्भागाद-विप्रुषश्च विंशत्या । छेदीव षोडशांशादत ऊर्ध्वं दुर्जरो ग्रासः ॥" (र. हृ. तं. अ. ६) । जब पारदमें सुवर्णादि ६४ वां भाग मिल जाता है जब पारद दण्डधर (विना दबाए कपडेमेंसे बाहर न आ सके ऐसा) होता है, जब ३२ वां भाग मिल जाता है तब पारद पायसाकार (उबाल कर गाढ़े किये हुए दूध जैसा) होता है; जब २० वां भाग मिल जाता है तब जलौकाकार (जौंक जैसा) हो जाता है, और १६ वां भाग मिला जाने पर उसको चाकूसे काट कर अलग कर लें ऐसा हो जाता है । इससे अधिक प्रमाणमें धातुका ग्रास पारदमें नहीं दिया जा सकता ।

कठिनान्यपि सत्त्वानि क्षमो भवति भक्षितुम् ।
इयं हि समुखा प्रोक्ता चारणा मृगचारिणा ॥ २० ॥

रसशास्त्रोक्त विधि(संस्कार)से शुद्ध किये हुए सुवर्ण और रौप्यको **बीज** कहते हैं। पारदमें चौसठवाँ भाग बीज मिलानेको **मुख** कहते हैं। पारदमें चौसठवाँ भाग बीज मिलानेसे पारद अभ्रकसत्त्व आदि कठिन सत्त्वोंको खानेमें (अपनेमें मिला लेनेमें) समर्थ होता है। इस प्रकार पारदमें पहले मुख उत्पन्न करके पीछे अभ्रकसत्त्वादिके चारण करानेकी क्रियाको **समुखचारणा** कहते हैं ॥ १८–२० ॥

निर्मुखचारणालक्षणम्—

दिव्यौषधिसमायोगात् स्थितः प्रकटकोष्ठिषु ।
भुञ्जीताखिललोहाद्यं निर्मुखा चारणा स्मृता ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे मुख उत्पन्न किये बिना ही खुले मुखकी मूषमें रखा हुआ पारद दिव्यौषधियोंके योगसे जो समग्र लोह और सत्त्वोंको खा ले (अपनेमें मिला ले) उसको **निर्मुखचारणा** कहते हैं ॥ २१ ॥

गर्भद्रुतिलक्षणम्—

ग्रस्तस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता ।
समरसतां यदि यातो वस्त्राद्गलितोऽधिकश्च तुलनायाम् ।
ग्रासो द्रुतः स गर्भे द्रुत्वाऽसौ जीर्यते क्षिप्रम् ॥ २२ ॥
(र. हृ. तं. अ. ५)।

ग्रास दिये (मिलाये) हुए अभ्रकसत्त्वादिको पारदके बीचमें द्रवीभूत करनेकी क्रियाको **गर्भद्रुति** कहते हैं। गर्भद्रुति होनेपर (ग्रास पारदमें द्रव होकर मिल जानेपर) ग्रास पारदके समान द्रव होकर उसमें एकजीव हो जाता है, काँटेपर वजन करनेपर जितना ग्रास दिया हो उतना पारेका वजन बढ़ता है। पारदमें जब ग्रास द्रवरूप होकर मिल जाता है तब वह बिड्के साथ जारण करनेपर शीघ्र जीर्ण होता है ॥ २२ ॥

बाह्यद्रुतिलक्षणम्—

बहिरेव द्रुतं कुर्याद्घनसत्त्वादिकं खलु ।
जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्यद्रुतिरुच्यते ॥ २३ ॥

पारदमें जारण करनेके लिये ग्रासार्थ लिये जानेवाले अभ्रसकत्त्वादि कठिन पदार्थोंको पहले बाहर ही द्रवीभूत कर लिया जाय, तो इसको **बाह्यद्रुति** कहते हैं ॥ २३ ॥

वक्तव्य—जैसे खाया हुआ अन्न मनुष्य आदि प्राणियोंके पेटमें द्रवीभूत हुए बिना नहीं पचता है, इसी प्रकार पारदमें अभ्रकसत्त्व आदिकी जारणा उनको

द्रवीभूत किये बिना नहीं हो सकती, अतः अभ्रसत्त्वादिकी गर्भद्रुति या बाह्यद्रुति करके पीछे जारणा की जाती है।

द्रुतिलक्षणम्—

औषधाध्मानयोगेन लोहधात्वादिकं खलु।
संतिष्ठते द्रवाकारं सा द्रुतिः परिकीर्तिता॥ २४॥
निर्लेपत्वं द्रुतत्वं च तेजस्त्वं लघुता तथा।
द्रुतं योगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम्॥ २५॥

सुवर्ण आदि लोह अथवा अन्य खनिज पदार्थोंको विशिष्ट औषधोंके साथ मिलाकर तीक्ष्ण आँच देनेसे वे पिघलकर द्रवावस्थामें ही रह जाँय तब इसको (उस मूलपदार्थकी) द्रुति कहते हैं। पात्रादिके साथ न चिपकना, सदा द्रवरूपमें रहना, चमकदार होना, मूल पदार्थसे हलका होना और पारदमें शीघ्र मिल जाना—ये पाँच द्रुतिके लक्षण हैं॥ २४॥ २५॥

जारणालक्षणम्—

द्रुतग्रासपरीणामो बिडयन्त्रादियोगतः।
जारणेत्युच्यते तस्याः प्रकाराः सन्ति कोटिशः॥ २६॥

ग्रास दिये हुए और द्रवीभूत किये हुए अभ्रसत्त्वादिको बिड मिलाकर और जारणाके लिये कहे हुए यन्त्रमें पकाकर पारदमें जीर्ण करा देनेकी क्रियाको **जारणा** कहते हैं। जारणाके अनेक प्रकार रसग्रन्थोंमें लिखे हुए हैं॥ २६॥

वक्तव्य—पारदमें संपूर्ण ग्रास जीर्ण होनेपर पारद केवल मूल वजन जितना रह जाता है "स्वप्रमाणो रसस्तिष्ठेज्जीर्णे ग्रासे" (र. र. स. अ. ३०)।

बिडलक्षणम्—

क्षारैरम्लैश्च गन्धाद्यैर्मूत्रैश्च पटुभिस्तथा।
रसग्रासस्य जीर्णार्थं तद्बिडं परिकीर्तितम्॥ २७॥

पारदमें दिये हुए ग्रासको जीर्ण करानेके लिये क्षार, अम्ल द्रव्य, गन्धक आदि खनिज द्रव्य, मूत्र और लवण इनको मिलाकर विशिष्ट क्रियासे जो पदार्थ तैयार किया जाता है उसको **बिड** कहते हैं॥ २७॥

वक्तव्य—जैसे खाया हुआ आहार आमाशय, यकृत्, अन्त्र आदिसे निकले हुए पित्तों-पाचक रसोंकी सहायतासे जीर्ण होता है इसी प्रकार पारदमें दिया हुआ ग्रास बिडकी सहायतासे जीर्ण होता है।

रञ्जनलक्षणम्—

सुसिद्धबीजधात्वादिजारणेन रसस्य हि।
पीतादिरागजननं रञ्जनं परिकीर्तितम्॥ २८॥

विशिष्ट प्रकारके संस्कारोंसे सिद्ध किये हुए बीजको पारदमें जारित करके पारदमें पीले, लाल आदि रंग उत्पन्न करनेकी क्रियाको **रञ्जन** संस्कार कहते हैं ॥ २८ ॥

सारणालक्षणम्—

सूते सतैलयन्त्रस्थे स्वर्णादिक्षेपणं हि यत् ।
वेधाधिक्यकरं लोहे सारणा सा प्रकीर्तिता ॥ २९ ॥

सारणयन्त्रमें सारणकर्मके लिये विशिष्ट क्रियासे बनाया हुआ सारणतैल तथा रञ्जित पारद डाल, उसमें स्वर्ण आदि गेरकर जो संस्कार किया जाता है उसको **सारणा** कहते हैं । सारणसंस्कारसे पारदमें लोहको वेध करनेकी शक्ति बढ़ जाती है ॥ २९ ॥

क्रामणप्रयोजनम्—

इति कृतसारणविधिरपि बलवानपि सूतराट् क्रियायोगात् ।
संवेष्ट्य तिष्ठति लोहं नो विशति क्रामणारहितः ॥ ३० ॥
अन्नं वा द्रव्यं वा यथाऽनुपानेन धातुषु क्रमते ।
एवं क्रामणयोगाद्रसराजो धातुषु क्रमते ॥ ३१ ॥
(र. हृ. तं. अ. १७) ।

सारणापर्यन्त संस्कार किया हुआ पारद क्रामण द्रव्योंका योग दिये बिना धातुओंका वेध करनेके लिये प्रयुक्त होनेपर धातुओंको बाहरसे ही रंग दे सकता है—धातुओंके अणु-अणुमें प्रवेश करके संपूर्ण धातुका वेध नहीं कर सकता । जैसे खाया हुआ अन्न वा औषध अनुपानके योगसे शरीरके सब धातुओंमें फैल जाता है, इसी प्रकार क्रामणसे पारद धातुओंके अणु-अणुमें प्रवेश करता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

वेधलक्षणम्—

व्यवायिभेषजोपेतो द्रव्ये क्षिप्तो रसः खलु ।
वेध इत्युच्यते तज्ज्ञैः स चानेकविधः स्मृतः ॥ ३२ ॥

सारणापर्यन्त संस्कार किये हुए पारदको व्यवायि (व्यापनशील–क्रामण) औषधोंके साथ मिलाकर ताम्र, वंग आदि दूसरी धातुमें डालनेकी क्रियाको **वेध** संस्कार कहते हैं । वेध संस्कारके लेप, क्षेप आदि अनेक भेद शास्त्रमें कहे गये हैं ॥ ३२ ॥

शोधनलक्षणम्—

लोह-धातु-रसादीनामुदितैरौषधैः सह ।
स्वेदनं मर्दनं चैव तैलादौ ढालनं तथा ॥ ३३ ॥
दोषापनुत्तये वैद्यैः क्रियंते शोधनं हि तत् ।

सुवर्ण आदि लोह, माक्षीक आदि धातु (खनिज), पारद, विष आदिको उनमें विद्यमान दोषोंको दूर करनेके लिये तत्तत् द्रव्यके शोधनके लिये कहे हुए औषधों-

(गोमूत्र, तैल, काँजी, दूध, स्वरस आदि)के साथ स्वेदन करना, मर्दन करना या उनको तपाकर अथवा गलाकर बुझाना—इन क्रियाओंको **शोधन** कहते हैं ॥ ३३ ॥—

वक्तव्य—स्वर्णादि लोहोंमें अन्य लोहकी मिलावट हो तो उसको दूर करना, अभ्रक आदिमें पत्थर आदि मिले हों तो उनको दूर करना, लोह और धातुओंको मारणके लिये उपयुक्त बनाना और उनमें स्थित शरीरपर हानि करनेवाले दोषोंको दूर करना—ये शोधन संस्कारके मुख्य उद्देश्य हैं ।

मारणलक्षणम्—

शोधिताँल्लोहधात्वादीन् विमर्द्य स्वरसादिभिः ॥ ३४ ॥
अग्निसंयोगतो भस्मीकरणं मारणं स्मृतम् ।

यथोक्त विधिसे शुद्ध किये हुए सुवर्णादि लोह, माक्षीक आदि धातु, वज्र आदि रत्न, तथा शंख आदिका कपड़छान चूर्ण कर, उनको खरलमें औषधियोंके स्वरस, गोमूत्र आदि द्रव पदार्थोंमें घोट, टिकिया बना, सुखा, दो तवोंके बीचमें रख, अग्निपुट देकर भस्म बनानेकी क्रियाको **मारण** कहते हैं ॥ ३४ ॥—

वक्तव्य—पुटोंका लक्षण और पुट देनेके विषयमें आवश्यक सूचनाएँ इसी खण्डमें आगे पर देखें ।

सूर्यपुटलक्षणम्—

द्रव्याणां भावितानां तु भावनौषधिजै रसैः ॥ ३५ ॥
शोषणं सूर्यतापे यत्तत् सूर्यपुटमुच्यते । (र. तं. तं. ३)

लोह, धातु, रत्न आदिको जिन औषधियोंके स्वरस आदिकी भावना देनी हो उनमें मर्दन करके सूर्यके तापमें रखनेको **सूर्यपुट** कहते हैं ॥ ३५ ॥—

पिष्टीलक्षणम्—

केतक्यर्कादियोगेन पेषणादतिसूक्ष्मताम् ॥ ३६ ॥
गतं मुक्तादिजं चूर्णं मता पिष्टी च पिष्टिका ।

मोती-प्रवाल आदिके चूर्णको पत्थरके खरलमें डाल, केवडा-गुलाब आदिके अर्क या नीबू आदिके स्वरसमें घोटनेसे जो अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण बनता है उसको (उस द्रव्यकी) **पिष्टी** या **पिष्टिका** कहते हैं ॥ ३६ ॥—

उत्थापनलक्षणम्—

मृतस्य पुनरुद्भूतिः संप्रोक्तोत्थापनाख्यया ॥ ३७ ॥

भस्म बनाई हुई किसी धातुको मित्रपञ्चक(द्रावणवर्ग)के साथ मिला, अग्निका

---

१. ३८ वें श्लोकमें लिखे हुए गुड़, गुञ्जा, सुहागा, शहद और घी इन पाँच द्रव्योंको द्रावणपञ्चक कहते हैं "गुञ्जाटङ्कणमध्वाज्यगुडा द्रावणपञ्चकम्" ।

उत्ताप दे कर फिर सजीवन करनेकी (धातुको मूलरूपमें लानेकी) क्रियाको उत्थापन कहते हैं ॥ ३७ ॥

निरुत्थ(अपुनर्भव)भस्मलक्षणम्—

गुड-गुञ्जा-सुखस्पर्श-मध्वाज्यैः सह योजितम्।
नायाति प्रकृतिं ध्मानादपुनर्भवमुच्यते ॥ ३८ ॥
रौप्येण सह संयुक्तं ध्मातं रौप्येण नो लगेत्।
तदा निरुत्थमित्युक्तं लोहं तदपुनर्भवम् ॥ ३९ ॥

किसी धातुकी भस्मको गुड, गुञ्जाका चूर्ण, सुहागा, शहद और घी इनके साथ मिला, मूषामें रख, उस भस्मको बनानेमें जितनी आँच दी गई हो उतनी आँच देनेपर भी फिर सजीवन न हो (भस्मसे धातु पृथक् न हो—भस्म फिर धातुरूपमें न आ जाय) उस भस्मको **अपुनर्भव** या **निरुत्थ** भस्म कहते हैं। अथवा, भस्मको चाँदीके साथ मूषामें रखकर चांदी गलकर रस बन जाय इतनी आँच देनेपर वह भस्म जरा भी चांदीसे मिले नहीं, उस भस्मको **निरुत्थ** या **अपुनर्भव** भस्म कहते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

रेखापूर्णभस्मलक्षणम्—

अङ्गुष्ठतर्जनीघृष्टं यत्तद्रेखान्तरे विशेत्।
मृतलोहं तदुद्दिष्टं रेखापूर्णाभिधानतः ॥ ४० ॥

जो धातुकी भस्म तर्जनी (अँगूठे और मध्यमाके बीचकी अङ्गुली) और अँगूठेके बीचमें रगड़ने पर तर्जनी और अँगूठेकी रेखाओंमें प्रवेश करती है उसको **रेखापूर्ण** भस्म कहते हैं ॥ ४० ॥

वारितरभस्मलक्षणम्—

मृतं तरति यत्तोये भस्म वारितरं हि तत्।

धातुकी जो भस्म जलमें तैर सकती है उसको **वारितर भस्म** कहते हैं ॥—

भस्म वारितर होनेकी परीक्षा—एक छोटासा स्वच्छ पात्र लेकर उसको जलसे परिपूर्ण भर देना चाहिए। कुछ समय ठहरनेके पश्चात् जलका पृष्ठ भाग शांत हो जावेगा। इस शान्त जलपृष्ठ पर, बारीक घोटकर कपड़छान की हुई थोड़ी सी भस्म अंगुष्ठ और तर्जनीके बीचमें रगड़ते हुए धीरे धीरे छोड़ देनी चाहिए। ऐसा करनेपर यदि वह भस्म उत्तम होगी तो पानीपर तैरेगी; और यदि वह कच्ची होगी तो पानीमें बैठ जावेगी (प्रो. दत्तात्रय अनंत कुलकर्णीकी रसरत्नसमुच्चयकी व्याख्या. पृ. १४८)।

वक्तव्य—धातुओंकी भस्म निश्चन्द्र (चमकरहित) बननी चाहिये यह मान्यता

वैद्योंमें प्रचलित है और वह ठीक है। धातुएँ स्वाभाविक अवस्थामें बहुधा स्फटिकमय स्थितिमें (Crystalline form) में होती हैं। जो पदार्थ स्फटिकमय स्थितिमें होगा उसके सूक्ष्म कणमें भी धार, फलक और कोन अवश्य होंगे। भस्मीकरण क्रियामें मर्दन, विशिष्ट ओषधियोंका संयोग और अग्निके तापसे उसकी स्फटीकमय स्थिति (धार और कोन) नष्ट हो जाती है। इससे भस्मके कण रक्तमें परिभ्रमण करते हुए जब केशवाहिनियों (Cappilaries) मेंसे गुजरते हैं तब उनकी अत्यन्त पतली दीवालोंको अपनी धार या कोनसे भेदन नहीं कर सकते। यदि भस्म चन्द्रिकायुक्त होगी तो भस्मके कण धार औन कोनयुक्त होनेसे उनसे केशवाहिनियोंकी अत्यंत पतली दीवारका भेदन होकर रक्तस्राव होनेका संभव रहता है। लोगोंमें कच्ची भस्म फुट निकलती है यह जो मान्यता है उसमें यही रहस्य हो ऐसा मालूम होता है।

ढालनलक्षणम्—

द्रुतलोहस्य निक्षेपो द्रवे तद् ढालनं स्मृतम् ॥ ४१ ॥

अग्निपर गलाई हुई धातुको स्वरस, दूध, तेल आदि द्रव पदार्थमें गेरनेकी क्रियाको **ढालन** कहते हैं ॥ ४१ ॥

आवापलक्षणम्—

द्रुते द्रव्यान्तरक्षेपो लोहाद्ये क्रियते हि यः।
स आवापः प्रतीवापस्तदेवाच्छादनं मतम् ॥ ४२ ॥

अग्नि द्वारा पिघलाए हुए धातु आदिमें अन्य किसी औषधद्रव्यके डालनेकी क्रियाको **आवाप, प्रतीवाप** और **आच्छादन** (प्रक्षेप) कहते हैं ॥ ४२ ॥

निर्वाप(ण)लक्षणम्—

तप्तस्याप्सु विनिक्षेपो निर्वापः स्नपनं च तत्।

अग्निमें गरम की हुई किसी वस्तुको जलमें बुझानेकी क्रियाको **निर्वाप(ण)** अथवा **स्नपन** कहते हैं ॥—

द्वन्द्वानम्—

द्रव्ययोर्मर्दनाद् ध्मानाद्द्वन्द्वानं परिकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

मर्दन और धमन करके दो द्रव्यों (धातुओं) को एकत्र मिलानेकी क्रियाको **द्वन्द्वान** (**द्वन्द्वमेलापन**) कहते हैं ॥ ४३ ॥

शुद्धावर्तलक्षणम्—

यदा हुताशो दीप्तार्चिः शुक्लोत्थानसमन्वितः।
शुद्धावर्तः स विज्ञेयः स कालः सत्त्वनिर्गमे ॥ ४४ ॥

जब अग्नि खूब प्रज्वलित होकर उसमेंसे श्वेत वर्णकी ज्वाला उठने लगे तब उसको

शुद्धावर्त कहते हैं। आँच इस प्रकारकी हो जानेपर धातुओंसे सत्त्व निकलनेका समय आगया है ऐसा जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

स्वाङ्गशीत-बहिःशीतयोर्लक्षणम्—

> वह्निस्थमेव शीतं यत्तदुक्तं स्वाङ्गशीतलम् ।
> अग्नेराकृष्य शीतं यत्तद्बहिःशीतमुच्यते ॥ ४५ ॥

चूल्हेपर या पुटमें रखी हुई वस्तु अपने आप ठंढी हो जाय तो उसको **स्वाङ्गशीतल** और अग्निसे बाहर निकालनेपर ठंढी हो जाय तो उसको **बहिःशीत** कहते हैं ॥ ४५ ॥

निर्वाहणलक्षणम्—

> साध्यलोहेऽन्यलोहं चेत् प्रक्षिप्तं वक्र(ङ्क)नालतः ।
> निर्वाहणं तु तत् प्रोक्तं रसतन्त्रविशारदैः ॥ ४६ ॥

बीजादिके लिए सिद्ध की जानेवाली किसी धातुमें दूसरी धातु वंकनालसे फूँक कर मिला देनेकी क्रियाको **निर्वाहण** कहते हैं ॥ ४६ ॥

वक्र(ङ्क)नाललक्षणम्—

> करप्रमाणं यन्नालमग्रे वक्रं तथैव च ।
> स्थूलच्छिद्रं तु तन्मूले ह्यग्रे स्यात् सूक्ष्मछिद्रकम् ॥ ४७ ॥
> वह्नौ फूत्कारदानाय वक्र(ङ्क)नालं तदुच्यते ।

पीतल आदि धातुकी एक हाथ लंबी, अग्रभागमें मुड़ी हुई, मूलमें स्थूल छिद्रवाली और अग्रभागमें सूक्ष्म छिद्रवाली जो नली बनाई जाती है उसको **वक्रनाल** या **वङ्कनाल** कहते हैं । एक ही स्थानपर अग्निकी ज्वालाको तीव्र करनेके लिये इस नलीको मुँहमें लेकर अग्निको फूँका जाता है ॥ ४७ ॥—

अमृतीकरणम्—

> लोहादीनां मृतानां वै शिष्टदोषापनुत्तये ॥ ४८ ॥
> क्रियते यस्तु संस्कारो ह्यमृतीकरणं मतम् ।

लोहादि धातुओंकी भस्म बनानेके बाद उनके अवशिष्ट दोषोंको दूर करनेके (तथा गुणवृद्धिके) लिये जो संस्कार किया जाता है उसको **अमृतीकरण** कहते हैं ॥ ४८ ॥—

धान्याभ्रकलक्षणम्—

> पादांशशालिसंयुक्तमभ्रं बद्ध्वाऽथ कम्बले ॥ ४९ ॥
> त्रिरात्रं स्थापयेन्नीरे क्लिन्नं वै मर्दयेत् करैः ।
> तन्नीर एव यत्नेन यावत् सर्वं पतत्यधः ॥ ५० ॥

कम्बलाद्गलितं सूक्ष्ममातपेन विशोषितम्।
तद्धान्याभ्रकमित्युक्तं मारणार्थं प्रशस्यते ॥ ५१ ॥

शुद्ध किये हुए अभ्रकका मोटा चूर्ण कर, उसमें चतुर्थांश धान (छिलके समेत चावल) डाल, ऊनी कम्बलमें या खद्दरमें बाँधकर एक पात्रमें भरे हुए जलमें (या काँजीमें) तीन दिन रख छोड़े। इससे अभ्रक नरम हो जायगा। चौथे दिन कम्बल-(या खद्दर)को एक पात्रपर बाँध, शालिसमेत अभ्रकको हाथसे मर्दन करके सब अभ्रकको जल(या काँजी)में छान, ऊपरकी निथरी हुई कांजी या जल निकाल कर धूपमें सुखा ले। इसको **धान्याभ्रक** कहते हैं। इस प्रकार धान्याभ्रक बनाकर पीछे उसकी भस्म बनानी चाहिये। धान्याभ्रक बना लेनेसे अभ्रक सूक्ष्म-मारणोपयुक्त होता है ॥ ४९-५१ ॥

सत्त्वलक्षणम्—

क्षाराम्ल-द्रावकैर्युक्तं ध्मातमाकरकोष्ठके।
यस्ततो निर्गतः सारस्तत् सत्त्वमभिधीयते ॥ ५२ ॥

क्षारवर्ग, अम्लवर्ग और द्रावणवर्गके द्रव्योंके साथ जिस अभ्रक, माक्षिक, खर्पर आदि खनिज द्रव्यका सत्त्व निकालना हो उसको मर्दन कर, उसके गोले बना, उन्हें सुखा, मूषामें डाल, भट्ठीमें रख कर दो मशीनके पंखों या धौंकनीकी सहायतासे तीव्र आँच देनेसे उन खनिजोंसे जो साररूप लोह (धातु) प्राप्त होता है उसको **सत्त्व** कहते हैं ॥ ५२ ॥

शोधनत्रितयम्—

काच-टङ्कण-सौवीरं शोधनत्रितयं प्रिये।
(रसार्णव, पटल ५, श्लो. ४२)

काँच, सुहागा और सौवीराञ्जन[१] ये तीन धातु द्रव्योंको शुद्ध करनेवाले हैं। इनको **शोधनत्रय** कहते हैं ॥—

क्षीरत्रयम्—

रविक्षीरं वटक्षीरं स्नुहीक्षीरं तथैव च ॥ ५३ ॥
क्षीरत्रयं समाख्यातं मारणार्थं प्रशस्यते।

आक(मदार)का दूध, बड़का दूध और थूहरका दूध—इन तीनोंको **क्षीरत्रय** कहते हैं। धातुओंके मारणके लिये इनका उपयोग होता है ॥ ५३ ॥—

---

१ कई लोग 'सौवीर' शब्दका अर्थ रसकपूर करते हैं। दक्षिणभारतके सिद्धसंप्रदाय-वाले रसकपूरको 'सवीरम्' कहते हैं। सुनार लोग सोनेको गलाते समय उसको शुद्ध करनेके लिये उसमें रसकपूर डालते हैं।

रक्तवर्गः, पीतवर्गश्च—

मञ्जिष्ठा कुङ्कुमं लाक्षा खदिरश्चासनस्तथा ॥ ५४ ॥
रक्तवर्गस्तु देवेशि, पीतवर्गमतः शृणु ।
कुसुम्भं किंशुकं रात्री पतङ्गो मदयन्तिका ॥ ५५ ॥

(रसार्णव, पटल ५, श्लो. ३८, ३९)

मजीठ, केसर, लाख, खैर और विजयसार इन पाँचको **रक्तवर्ग** कहते हैं। कुसुंभके फूल, ढाकके फूल, हल्दी, पतंगकी लकड़ी और मेंहदी इन पाँच द्रव्योंसे **पीतवर्ग** होता है। रक्तवर्ग और पीतवर्गका पारदके रञ्जनकर्ममें उपयोग होता है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

शुक्लवर्गः—

शुक्लवर्गः सुधा-कूर्म-शङ्ख-शुक्ति-वराटिकाः ।

(रसार्णव, पटल ५, ४०)

चूना, कछुएकी पीठ, शंख, सीप और कौड़ी ये पाँच **शुक्लवर्गके** द्रव्य हैं। पारदके शुक्लकर्ममें इनका उपयोग होता है ॥—

कृष्णवर्गः—

कदली कारवेल्ली च त्रिफला नीलिका नलः ॥ ५६ ॥
पङ्कः कासीस-बालाम्रं कृष्णवर्ग उदाहृतः ।

(रसेन्द्रचूडामणि अ. ९)

केला, करेला, त्रिफला, नील, नरसल, तालावकी कीचड़, कसीस और कच्चा आम ये **कृष्णवर्गके** द्रव्य हैं ॥ ५६ ॥—

वक्तव्य—रक्तवर्ग, पीतवर्ग, शुक्लवर्ग और कृष्णवर्गका उपयोग बताते हुए **रसेन्द्र चूडामणिमें** लिखा है कि–"रक्तवर्गादिवर्गैश्च द्रव्यं यज्जारणात्मकम् । भावनीयं प्रयत्नेन तादृग्रागाप्तये खलु ॥=पारदमें रक्त, पीत आदि रंग लानेके लिये जिन द्रव्योंकी जारणा करनी हो उन द्रव्योंको प्रयोजनानुसार उस रंगवाले वर्गोंके स्वरस या क्वाथकी भावनाएँ देनी चाहिये"।

वृक्षक्षाराः—

तिलापामार्ग-कदली-पलाश-शिग्रु-मोक्षकाः ॥ ५७ ॥
मूलकार्द्रक-चिञ्चाश्च(जा)वृक्षक्षाराः प्रकीर्तिताः ।

(रसार्णव, पटल ५, श्लो. ३०)

तिल, चिंचड़ा, केला, ढाक, सहिंजना, मोखा, मूली, अदरख और इमली इनके क्षारोंको **वृक्षक्षार** कहते हैं ॥ ५७ ॥—

अम्लगणः—

अम्लवेतस-जम्बीर-लुङ्गाम्ल-चणकाम्लकाः ॥ ५८ ॥
नारङ्गं तिन्तिडीकं च चाङ्गेर्यम्लगणः स्मृतः।
(रसार्णव, पटल. ५, श्लो. ३९)

अम्लबेत, जंभीरी नीबू, बिजोरा, चनेकी खटाई, नारंगी, सुमाक[1] और चांगेरी (खट्टी तिपत्ती) ये अम्लवर्गके द्रव्य हैं ॥ ५८ ॥—

विड्वर्गः—

विड्भिः कपोत-चाषाणां शिखि-कुक्कुट-गृध्रजैः ॥ ५९ ॥
शोधनः सर्वलोहानां विड्गणः समुदाहृतः।

कबूतर, नीलकण्ठ, मुर्गा, गीध और मोर इनकी विष्ठाओंको विड्गण (विड्वर्ग) कहते हैं। विड्वर्गका लेप लगाकर पुट देनेसे लोह शुद्ध होता है ॥ ५९ ॥—

तैलवर्गः—

तैलानि त्त्मानि वै।
कुसुम्भ-कङ्गुणी-क्षुमा-तिल-सर्षपजानि तु ॥ ६० ॥
(रसार्णव, पटल ५, श्लो.)

तिल-सर्षपकोन्मत्त-भल्लातैरण्डनिम्बजैः।
उमादीनां च तैलैस्तु तैलवर्गोऽत्र संमतः ॥ ६१ ॥ (र. त. २)

कुसुंभके बीज, मालकँगनी, अलसी (तिसी), तिल, सरसों, धतूरेके बीज, भिलावेंकी गिरी, एरण्डबीज और निबौली इनके तेलोंको तैलवर्ग कहते हैं ॥ ६० ॥ ६१ ॥

पञ्चामृतम्—

गव्यं क्षीरं दधि घृतं माक्षिकं चाथ शर्करा।
पञ्चामृतं समाख्यातं रसकर्मप्रसाधकम् ॥ ६२ ॥

गायका दूध-दही-घी, शहद और शक्कर ये पाँच मिलकर पञ्चामृत कहलाता है ॥ ६२ ॥

लोहानि—

सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रपु सीसकमायसम्।
षडेतानि तु लोहानि मिश्रितौ कांस्यपित्तलौ ॥ ६३ ॥

सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा, सीसा और लोहा इन छः पदार्थोंको लोह कहते हैं। काँसा और पीतल इनको मिश्रलोह कहते हैं ॥ ६३ ॥

---

१ मसूरके जैसे लाल रंगके खट्टे बीज सुमाक नामसे यूनानी द्रव्य बेचनेवालोंके यहाँ मिलते हैं। इनको मारवाड़में डाँसरिया कहते हैं।

वक्तव्य—संस्कृतभाषामें सोना, चाँदी आदि पदार्थोंके लिये **लोह** शब्दका प्रयोग होता है। हिंदीभाषामें इनके लिये **'धातु'** शब्दका प्रयोग किया जाता है। संस्कृतभाषामें जिन खनिज द्रव्योंसे सोना, चाँदी आदि निकाले जाते हैं उनके लिये मुख्यतया 'धातु' शब्दका प्रयोग होता है। आयुर्वेदप्रकाशमें लोहोंकी गणनामें यशद (जस्त)का नाम अधिक दिया है। प्राचीन ग्रन्थोंमें यशदको **खर्परसत्त्व** नामसे लिखा है। धातुओंका विशेष विवरण **प्रो. दत्तात्रय अनन्त कुलकर्णी** विरचित रसरत्नसमुच्चयकी व्याख्यामें देखें। रसार्णवमें सोना और चाँदीको **सारलोह**, ताँबे और लोहेको **साधारणलोह** तथा राँगे और सीसेको **पूतिलोह** लिखा है। इस प्रकार लोहके तीन वर्ग दिये हैं। रसेन्द्रचूडामणिमें मिश्रलोहोंमें **वर्तलोह** अधिक लिखा है।

रत्नानि—

वज्रं विद्रुम-मौक्तिके मरकतं वैदूर्य-गोमेदके
माणिक्यं हरिनील-पुष्पदृषदौ रत्नानि नाम्ना नव॥ ६४॥

हीरा, प्रवाल, मोती, पन्ना, लहसुनिया, गोमेद, माणिक, नीलम और पुखराज—ये नौ **रत्न** कहलाते हैं॥ ६४॥

उपरत्नानि—

वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च स्फटिकश्चन्द्रकान्तकः।
राजावर्तः फिरोजाख्यो ह्यक्रीकस्तृणकान्तकः॥ ६५॥
नागाश्मा यशबाख्यश्च ह्युपरत्नानि वै दश।

तुरमरी, सूर्यकान्त, स्फटिक, चन्द्रकान्त, लाजवर्द, फिरोजा, अकीक, कहरुवा, जहरमोहरा और संगेयशब ये दश औषधके काममें आनेवाले **उपरत्न** हैं। कई आचार्योंने काँचको भी उपरत्न माना है॥ ६५॥—

अष्टौ महारसाः—

माक्षिको विमलः शैलश्चपलो रसकस्तथा॥ ६६॥
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाऽष्टमम्।
अष्टौ महारसाः × × × × ×॥ ६७॥

(रसार्णव, पटल ७, श्लो. २)

महारसाः स्युर्घन-राजवर्त-वैक्रान्त-सस्या विमलाद्रिजाते।
तुत्थं च ताप्यं च रसायनास्ते सत्त्वानि चैषाममृतोपमानि॥ ६८॥

(रसेन्द्रचूडामणि अ. १०)

रसार्णवमें माक्षिक, विमल, शैल (शिलाजीत), चपल, रसक (खर्पर), सस्यक

(नीलाथोथा), दरद (हिङ्गुल) और स्रोतोऽञ्जन—इन आठ द्रव्योंको **महारस** नाम दिया है। **रसेन्द्रचूडामणि**में अभ्रक, राजावर्त (लाजवर्द), वैक्रान्त, विमल, शिलाजीत, नीलाथोथा और माक्षिक—इन आठ द्रव्योंको **महारस** कहा है॥ ६६–६८॥

अष्टावुपरसाः—

गन्धकस्तालकः शिला सौराष्ट्री-खग-गैरिकम्।
राजावर्तश्च कङ्कुष्ठमष्टावुपरसाः स्मृताः॥ ६९॥

(रसार्णव, पटल ७, श्लो. ५६)

गन्धाश्म-ताल-तुवरी-कुनटी-सुवीर-कङ्कुष्ठ-खेचरक-गैरिकनामधेयाः।
उक्ता बुधैरुपरसास्तु रसायनास्ते तैर्बद्धपारदवरो हि रसायनः स्यात्

(रसेन्द्रचूडामणि अ. ११)

रसार्णवमें गन्धक, हरताल, मैनसिल, फिटकिरी, कसीस, गेरू, लाजवर्द और कङ्कुष्ठ—इन आठ द्रव्योंको **उपरस** नाम दिया है। **रसेन्द्रचूडामणि**में लाजवर्दके स्थानमें सौवीराञ्जन लिखा है। अन्य सात रसार्णवोक्त ही लिखे हैं॥ ६९॥ ७०॥

साधारणरसाः—

कम्पिल्लश्चपलो गौरीपाषाणो नव(र)सारकः।
कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दुर-हिङ्गुलौ॥ ७१॥
मृद्दारशृङ्गमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः।

(रसेन्द्रचूडामणि अ. ११)

कमीला, चपल, संखिया, नौसादर, कौड़ी, अम्बर, गिरिसिन्दूर, हिङ्गुल और मुरदासंग—ये नौ **साधारणरस** कहलाते हैं॥ ७१॥—

वक्तव्य—महारस, उपरस और साधारणरस इन संज्ञाओं(पारिभाषिक नामों)के विषयमें रसतन्त्रोंमें एकवाक्यता नहीं है। ऊपर **रसार्णव** और **रसेन्द्रचूडामणि** इन दो आकरग्रन्थोंके जो वचन लिखे हैं उनसे यह स्पष्ट-सिद्ध होता है। **रसपद्धतिकार**ने वैक्रान्त, अभ्रक, शिलाजतु, चपल, ताप्य और तुत्थ ये छः **महारस** लिखे हैं—"वैक्रान्तं गगनं शिलाज-चपलौ तापीज-तुत्थे तु षण्नाम्ना नाम महारसाः"। ताप्यमें माक्षीक और विमल दोनोंका तथा तुत्थमें मयूरतुत्थ (नीलाथोथा) और खर्परतुत्थ (रसक) दोनोंका अन्तर्भाव किया है। गन्धक, हरताल और मैनसिल इन तीनोंको **उपरस** कहा है—"गन्धस्तालमनःशिले उपरसाः"। **आयुर्वेदप्रकाश**में गन्धक, हिंगुल, अभ्रक, हरताल, मैनसिल, स्रोतोऽञ्जन, टङ्कण, लाजवर्द, चुम्बक (अयस्कान्त), फिटकिरी, शङ्ख, खड़िया मिट्टी, गेरू, कसीस, खपरिया, कौड़ी, बालू, बोल, कङ्कुष्ठ इन सबको **उपरस** नाम दिया है—

"गन्धो हिङ्गुलमभ्र-तालक-शिलाः स्रोतोऽञ्जनं टङ्कणं राजावर्तक-चुम्बकौ च स्फटिका शङ्खः खटी गैरिकम् । कासीसं रसकः कपर्द-सिकता-बोलाश्च कङ्कुष्ठकं सौराष्ट्री च मता अमी उपरसाः सूतस्य किञ्चिद्गुणैः ॥ तुल्याः" इति । रसशास्त्रमें प्रयुक्त द्रव्योंके वर्गीकरणमें बड़ा मतभेद है और इससे पाठकोंमें भ्रम उत्पन्न होनेकी संभावना है। अतः रसशास्त्रोक्त द्रव्योंका फिरसे शास्त्रीय पद्धतिसे वर्गीकरण करनेकी आवश्यकता है। मेरे मतसे रसशास्त्रोक्त द्रव्योंका वर्गीकरण इस प्रकार होना चाहिये— १ **रस**–पारद। २ **लोह**–सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, अयस्, नाग, वङ्ग, यशद। ३ **मिश्रलोह**—रीति (पीतल), कांस्य, वर्त। ४ **धातु**—हिङ्गुल, गिरिसिन्दूर, रसाञ्जन, वैक्रान्त, अभ्रक, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, गैरिक, चुम्बक (अयस्कान्त), कासीस, ताल, मनःशिला, तुत्थ (सस्यक), चपल, स्रोतोञ्जन, सौवीराञ्जन, पुष्पाञ्जन, सौराष्ट्री (स्फटिका), मृद्दारशृङ्ग, रसक (खर्पर)। ५ **प्राणिज (वर्ग)**—शङ्ख, कौड़ी, अग्निजार। ६ **उद्भिज्ज (वर्ग)**—कम्पिल्लक, बोल। कङ्कुष्ठके विषयमें अभीतक मतभेद चला आता है, अतः उसको धातु मानना या उद्भिज्ज मानना यह अनिश्चित है। ७ **रत्न**—वज्र, नीलम, माणिक्य, पोखराज, गोमेद, पन्ना, वैदूर्य, मुक्ता, प्रवाल। ८ **उपरत्न**— सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, स्फटिक, तृणकान्त (कहरुबा), अकीक, जहरमोहरा, फिरोजा, संगेयशब, वैक्रान्त, लाजवर्द, काँच।

रसशास्त्र और **चाणक्यके अर्थशास्त्रमें** पारदका किसी वर्गमें अन्तर्भाव न करके स्वतन्त्र द्रव्य माना है। सोना, चाँदी, ताँबा, अयस् (लोहा), त्रपु (राँगा) और सीसा इन छःको **लोह** नाम दिया है। जिसको अंग्रजीमें मेटल (Metal) कहते हैं। सोना, चाँदी आदि लोह जिन खनिज द्रव्योंसे निकाले जाते हैं उनको **धातु** नाम दिया है। धातुको अंग्रेजीमें ओअर (Ore) कहते हैं। चाणक्यने अर्थशास्त्रमें सुवर्ण, रूप्य, ताम्र, तीक्ष्ण, त्रपु और सीस इनके खनिजोंका स्वरूप लिखकर उनको सुवर्णधातु, रूप्यधातु, तीक्ष्णधातु, ताम्रधातु, और सीसधातु ये नाम दिये हैं। धातुओं (खनिजों) से निकाले हुए सुवर्णादिको **सत्त्व** या **लोह** नाम दिया है। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, राँगा और सीसा ये छः लोह अतिप्राचीनकालसे भारतीयोंको मालूम थे। रससिद्धोंने रसक (खर्पर) से **खर्परसत्त्व (जस्ता)**, स्रोतोऽञ्जनसे **वरनाग (एन्टिमनी)**, फिटकिरीसे **कांक्षीसत्त्व (एल्यूमिनिअम)** और चपलसे **चपलसत्त्व (बिसथ)** निकाला था। परन्तु उनका प्रचार रससिद्धोंतक सीमित था। जन-साधारणमें इनका प्रचार नहीं हुआ था। पीछेसे खर्परसत्त्व (जस्ते) का साधारण जनतामें प्रचार हुआ और जस्तेको लोहोंमें सातवाँ स्थान मिला। 'लोह' शब्दकी निरुक्ति बताते

---

१ रसार्णवशब्दसे यहां रसौत नहीं किन्तु पारेका एक खनिज (नेचरल रेड ऑक्साइड ऑफ मर्क्युरी) अभिप्रेत है।

हुए **सोमदेव** लिखते हैं कि—"धातुर्लोहे 'लुह' इति मतः सोऽपि कर्षार्थवाची" (रसेन्द्रचूडामणि अ. १४. श्लो. १) । 'लोह'शब्द 'लुह' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ खींचना है । सुवर्ण आदि अपने धातुओंसे क्रियाविशेषसे खींचकर निकाले जाते हैं, अतः उनको **लोह** नाम दिया जाता है । 'लुह्' धातु पाणिनिके धातुपाठमें नहीं मिलता । **'धातु'** शब्दका अर्थ है सुवर्ण आदि लोहोंको धारण करनेवाला खनिज द्रव्य । हिङ्गुल, माक्षीक, सौवीराञ्जन आदि खनिज पारद, लोहा आदिको धारण करनेवाले हैं, अतः उन सबकी धातुवर्गमें गणना करना युक्तियुक्त है । महारस, उपरस, साधारणरस आदि संज्ञाएँ अनिश्चितार्थ हैं, अतः उनको छोड़ देना चाहिये ।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे रसतन्त्रीयपरिभाषाविज्ञानीयाध्यायश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

उपकरणविज्ञानीयाध्यायः पञ्चमः ।

अथात उपकरणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

खल्वलक्षणम्—

खल्वश्चतुर्विधः कार्यो दृढपाषाणसंभवः ।
लोह-मृत्काचजश्चैव मर्दकोऽपि तथाविधः ॥ २ ॥
नौकाकारोऽथ वृत्तश्च द्विविधः खल्व इष्यते ।

औषधनिर्माणके लिये चार प्रकारका खरल (खल-बट्टा) रखना चाहिये—१-न घिसनेवाले मजबूत पत्थरका; २-लोहेका; ३-खरल बनानेके लिये खास तौरसे बनाई हुई मिट्टीका; और ४-काँचका । आकारकी दृष्टिसे खरल दो प्रकारका बनता है—१-नावके आकारका (किस्तीनुमा) और २-गोल ॥ २ ॥—

वक्तव्य—न घिसनेवाले पत्थरोंमें **अकीक, संगेयशब** और **समाकं** ये पत्थर उत्तम हैं । रत्नोंकी पिष्टि बनानेके लिये इन पत्थरोंके बने हुए खरल काममें लेने चाहियें । उनके बाद **कसौटी**, सवाईमाधोपुर(जयपुरराज्य)का **उड़दिया** और गयाका **तामड़ा** ये पत्थर भी अच्छे हैं । रत्नोंको छोड़कर अन्य द्रव्योंको घोटनेके लिए इन पत्थरोंके खरल अच्छे हैं । पत्थरकी परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिये—माणिक्य, मोती या प्रवालका सूक्ष्म वस्त्रसे छाना हुआ चूर्ण खरलमें डाल, उसमें थोड़ा जल मिलाकर ३-४ घंटा घोटे । सूखनेपर चूर्णका वजन करके देखे ।

---

१ इस मिट्टीको अंग्रेजी पोर्सलेन (Parcelain) कहते हैं । इस मिट्टीसे बनाए हुए खरलको अंग्रेजीमें **वेजवुड मोर्टर** 'Wedgewood Mortar.' कहते हैं ।
२ ये पत्थर प्रायः रत्नोंसे घिसते नहीं और रत्नपिष्टिमें थोड़े उतरें तो भी ये स्वयं उपरत्न होनेसे पिष्टिपर इनका बुरा असर नहीं पड़ता ।

यदि वजन बढ़े तो पत्थर घिसनेवाला है ऐसा समझे और वजन न बढ़े तो पत्थर अच्छा और खरीदने योग्य है ऐसा समझना चाहिए। अथवा खरलको जलसे धो, उसमें थोड़ा जल डालकर घोटे। यदि जलका रंग वैसा ही रहे—न बदले, तो पत्थर न घिसनेवाला है ऐसा समझे। लोहेका खरल अच्छे तीक्ष्णलोह(फौलाद)का बनवाना चाहिये। पत्थरका खरल प्रायः सब कामोंमें उपयोगी होता है। लोहेका खरल पारदके संस्कार तथा लोह, मंडूर, माक्षिक, अभ्र और ताम्रकी भस्म बनानेके लिये अच्छा है। द्रावकाम्ल(तेजाब)में पारद, सोना आदि मिलानेके लिये तेजाबमें न घुलनेवाला ([1]Acid-proof) मिट्टीका या काँचका खरल काममें लेना चाहिये। साधारणतः नौकाकार खरल भीतरसे १० से १६ इंच लंबा और गोल खरल ६ से १२ इंच चौड़ा लेना चाहिये। बट्टा आदमी हाथसे उठाकर अच्छी तरह घोट सके इतना ऊँचा और वजनदार होना चाहिये ॥ २ ॥—

शिलालक्षणम्

पेषणार्थं शिला ग्राह्याऽखरा श्यामा दृढा गुरुः ॥ ३ ॥
चतुरङ्गुलकोत्सेधा विंशत्यङ्गुलविस्तरा ।
त्रिंशदङ्गुलदीर्घा च, घर्षणी षोडशाङ्गुला ॥ ४ ॥
परिणाहेऽथ दैर्घ्येऽपि षोडशाङ्गुलसंमिता ॥

कल्कको पीसनेके लिये मजबूत और वजनदार पत्थरका सिल-लोढा बनवाना चाहिये। सिल और लोढा दोनों कुछ खुरदरे (खरस्पर्श) बनवाने चाहियें। सिल चार अँगुल (३ इंच) ऊँची, २० अँगुल (१५ इंच) चौड़ी और ३० अँगुल (२२॥ इंच) लंबी बनवानी चाहिये। बट्टा [लोढा] १६ अँगुल घेराईका, और १६ अँगुल [१२ इंच] लंबा बनवाना चाहिये ॥ ३ ॥ ४ ॥—

वक्तव्य—कल्क पीसनेके लिये पत्थर या मिट्टीकी कूँडी भी अच्छी है। सिंधमें शिकारपुर और हालामें (हैदराबादके पास) मिट्टीकी अच्छी कूँडियाँ बनती हैं। पत्थरकी कूँडीमें पीसनेके लिये पत्थरका बट्टा और मिट्टीकी कूँडीमें पीसनेके लिये लकड़ीका नीचेसे चौड़ा और ऊपरसे सँकरा मजबूत डंडा (सोटा) बनवाना चाहिये।

मुषलोदूखललक्षणम्—

मुषलोदूखले कार्ये चूर्णार्थं लोहकाष्ठजे ॥ ५ ॥

औषधका चूर्ण बनवानेके लिये लोहेका या मजबूत लकड़ीका ऊखल और मूसल (इमाम-दस्ता) बनवाना चाहिये ॥ ५ ॥

---

[1] ०॥० से १२ नम्बर तकके बने हुए गोल खरल (Wedgewood mortar) बाजारमें विलायती दवा बेचनेवालोंके यहाँ तैयार मिलते हैं। ये खरल एसिडप्रुफ होते हैं, अर्थात् द्रावकाम्लोंका इनपर कोई असर नहीं होता।

वक्तव्य—लोहे और पीतलके छोटे मोटे इमाम-दस्ते बाजारमें तैयार मिलते हैं। फौलादका इमाम-दस्ता बनवाना अच्छा है। दस्ता एक बाजूसे गोल और दूसरी बाजूसे चिपटा बनवाना चाहिये। जड़ें आदि तोड़नेके लिये चिपटी बाजूसे और कूटनेके लिये गोल बाजूसे काम लेना चाहिये।

दोलायन्त्रम्—

> द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्धोदरस्य च।
> मुखस्योभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ॥ ६ ॥
> तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम्।
> बद्ध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥ ७ ॥

एक हाँडी ले, उसके गलेमें दोनों तरफ एक एक छिद्र कर, उनमें एक मजबूत लोहेकी सलाई डाल, हाँडीका आधा भाग द्रवद्रव्यसे भर, सलाईके बीचोबीच मजबूत कपड़ेमें बाँधी हुई पारद आदि स्वेद्यद्रव्यकी पोटली, वह द्रवद्रव्यमें डूबी रहे किंतु तलभागमें लगे नहीं इस प्रकार लटका, हाँडीको अंगीठी या चूल्हेपर चढ़ाकर नीचे मंदी आँच दे। आँच इतनी होनी चाहिये कि द्रव उबलता रहे परंतु उफनकर बाहर न आवे। इसको **दोलायन्त्र** कहते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

स्वेदनीयन्त्रम्—

> साम्बुस्थालीमुखाबद्धे वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत्।
> पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयन्त्रमुच्यते ॥ ८ ॥

हाँडीमें जल आदि द्रवपदार्थ आधेतक भर, हाँडीके मुखपर एक मजबूत वस्त्र थोड़ा ढीला रहे इस प्रकार अच्छी तरह बाँध, ऊपर स्वेद्य पदार्थ रख, ऊपर एक थाली ढाँक कर यन्त्रको चूल्हेपर चढ़ा देवे और नीचे धीरे धीरे आँच देता रहे। इसको **स्वेदनीयन्त्र** या **स्वेदनयन्त्र** कहते हैं ॥ ८ ॥

पातनयन्त्र—

पारदका ऊर्ध्वपातन (ऊँचे उड़ाना), अधःपातन (नीचे उड़ाना) और तिर्यक्पातन (तिरछा उड़ाना) ऐसा तीन प्रकारका पातनसंस्कार रसतन्त्रोंमें कहा है। गंधक, नौसादर, लोबान, हरताल आदि द्रव्योंका भी ऊर्ध्वपातन किया जाता है। ऊर्ध्वपातनके लिये **विद्याधरयन्त्र**[1] इसी खंडमें आगे लिखा है। इस विद्याधरयन्त्रमें अधःपातनके लिये तैयार किया हुआ पारदका कल्क एक हाँडीके तलेमें लगा, उसको सुखा, समान मुखवाली दूसरी हाँडीके साथ उसका मुँह मिला, सन्धिस्थानमें सात कपड़मिट्टी कर,

---

१ विद्याधरयन्त्रमें दो हाँडियोंको मिलाकर सन्धिलेप कर देनेपर वह डमरू जैसा दिखता है, इसलिये इसको **डमरूयन्त्र** भी कहते हैं।

इसको सुखा, एक पानीभरे हुए पात्रपर नीचेकी हाँडीका तलभाग जलमें रहे इस प्रकार रख दे। पारा लगी हुई हाँडी ऊपर और खाली हाँडी नीचे रहनी चाहिये। पीछे ऊपरकी हाँडीके ऊपरी भागमें किनारीकी तरफ चार अंगुल ऊँची मिट्टीकी पाल बनाकर सूखने दे। पाल सूखनेपर पालके बीचमें कोयले या जँगली उपलोंकी आँच दे। ऊपरकी हाँडीमें लगा हुआ पारा गरम होनेसे नीचेकी हाँडीमें आकर इकट्ठा होगा। इस प्रकार बनाए हुए यन्त्रको **अधःपातनयन्त्र** कहते हैं। तिर्यक्पातनयन्त्रका वर्णन इसी खण्डमें पृ. ७७ पर दिया है।

वक्तव्य–पातनसंस्कारका उद्देश पारदमें मिले हुए (मिश्रित) नाग–वंग आदि धातुओंको अलग करना है। यह कार्य तिर्यक्पातनयन्त्रसे अच्छी तरहसे होता है। अतः ऊर्ध्वपातन और अधःपातन न करके ऊर्ध्वपातन तथा अधःपातन संस्कारमें लिखे हुए औषधोंके साथ पारदकी पिष्टि बना, सुखा, तिर्यक्पातनयन्त्रमें डालकर पृष्ठ ७७ पर लिखे हुए विधानसे तिर्यक्पातन कर लेना अच्छा है। इस प्रकार तीन वार तिर्यक्पातन करनेसे पारदमें मिले हुए नाग–वंग–संखिया आदि सब धातु अलग होकर पारद बिलकुल शुद्ध हो जाता है और वजनमें ज्यादा घटता भी नहीं।

कच्छपयन्त्रम्—

> जलपूर्णं दृढं पात्रं सुविशालं समाहरेत्।
> तन्मध्ये खर्परं दद्यात् सुविस्तीर्णं नवं दृढम् ॥ ९ ॥
> तन्मध्ये पारदं दद्यादूर्ध्वाधोगन्धकावृतम्।
> उपरिष्टादधोवक्त्रां दत्त्वा लोहकटोरिकाम् ॥ १० ॥
> सम्यक् सन्धिं विमुद्र्याथ दद्यादुपरि वै पुटम्।

एक बड़े मिट्टीके कुंडेमें कण्ठसे कुछ नीचे तक जल भर, उसपर एक लोहेकी कड़ाही जलको नीचेकी ओर कुछ लगे इस तरह रख, कड़ाहीके मध्यमें एक तोला शुद्ध गंधकका चूर्ण बिछा, ऊपर २० तोला पारद रख, पारेके ऊपर एक तोला और गन्धकका चूर्ण छिड़क, ऊपर एक छोटी लोहेकी कटोरी रख, सन्धिस्थानमें मिट्टीका लेप देकर सन्धिको अच्छी तरह बन्द कर दे। सन्धिका लेप सूखनेपर ऊपर जँगली उपलोंकी या कोयलोंकी आँच लगभग दो घंटे तक दे। स्वाङ्गशीतल होनेपर खोलकर देखे कि सब गन्धक जलकर कोयले जैसा हो गया है कि नहीं। यदि कुछ गन्धक कच्चा रह गया हो तो इसी प्रकार फिर गन्धकजारण करे। इस विधिसे जितना चाहे उतना अन्तर्धूमविधिसे गन्धकजारण कर सकते हैं। इसको **कच्छपयन्त्र** कहते हैं ॥ ९ ॥ १० ॥

हंसपाकयन्त्रम्—

> खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा तस्योपरि न्यसेत् ॥ ११ ॥
> अपरं खर्परं तत्र शनैर्मृद्वग्निना पचेत्।
> पञ्चक्षारैस्तथा मूत्रैर्लवणैश्च बिडं भिषक् ॥ १२ ॥
> हंसपाकं समाख्यातं यन्त्रं तद्रसकोविदैः।

एक बड़ी लोहेकी कड़ाही या नाँदमें बालू भर, ऊपर दूसरी छोटी कड़ाही रख, उसमें पाँचों क्षार, आठों मूत्र और पाँचों लवण डाल, चूल्हेपर चढ़ाकर नीचे मंदी आँच दे। जब कड़ाहीके अंदरके सब द्रव्य सूख जायँ तब नीचे उतार, ठंढा करके निकाल ले। इस प्रकार तैयार किये गये द्रव्यको **बिड़** कहते हैं। रससिद्धोंने इस यन्त्रका नाम **हंसपाकयन्त्र** रखा है ॥ ११ ॥ १२ ॥—

घटयन्त्रम्—

चतुष्प्रस्थजलाधारं चतुरङ्गुलिकाननम् ॥ १३ ॥
घटयन्त्रमिदं प्रोक्तं तदाप्यायनकं स्मृतम्।

जिस मिट्टीके घड़ेमें चार प्रस्थ (२५६ तोला) जल आ सके और जिसका मुँह चार अंगुल चौड़ा हो उसको **घटयन्त्र** या **आप्यायनकयन्त्र** कहते हैं। पारदके रो(बो)धन संस्कारके लिये इस यन्त्रका उपयोग होता है ॥ १३ ॥—

भूधरयन्त्रम्—

वालुकागूढसर्वाङ्गां मध्ये मूषां रसान्विताम् ॥ १४ ॥
दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्।

पारद आदि जिस द्रव्यको पकाना हो, उसको मूषामें भर, मूषाके मुँहपर दृढ़ शराव रख, सन्धिस्थानमें कपड़मिट्टी करके सुखा ले। यदि काचकी शीशीमें द्रव्य पकाना हो तो शीशीको कपड़मिट्टी चढ़ा, सुखा, उसमें द्रव्य भर, शीशीके मुँहपर मुलतानी मिट्टी या खड़िया मिट्टीकी डाट दे, उसको कपड़मिट्टी लगाकर बंद करदे। पीछे जमीनमें एक खड्डा खोद, मूषाको बीचोबीच रखकर गड्ढेको बालूसे मूषाके २-३ अंगुल ऊपरतक भरकर ऊपर जँगली उपलोंकी आँच दे। इस यन्त्रको **भूधरयन्त्र** कहते हैं ॥ १४ ॥—

वालुकायन्त्रम्—

भाण्डे वितस्तिगम्भीरे मध्ये निहितकूपिके ॥ १५ ॥
कूपिकाकण्ठपर्यन्तं वालुकाभिश्च पूरिते।
भेषजं कूपिकासंस्थं वह्निना यत्र पच्यते ॥ १६ ॥
वालुकायन्त्रमेतद्धि रसज्ञैः परिकीर्तितम्।

एक बित्ता (बिलाँद-९ इंच) गहरी मिट्टीकी मजबूत हाँडी या लोहेकी नाँद ले, उसके मध्यमें कपड़मिट्टी की हुई शीशी रख, हाँडीके गले तक बालू भर, उसको चूल्हेपर चढ़ाकर अग्निपर पकावे। इस यन्त्रको **वालुकायन्त्र** कहते हैं। इसका उपयोग रससिन्दूर आदि कूपीपक्व रसोंके बनानेमें होता है ॥ १५ ॥ १६ ॥—

लवणयन्त्रम्—

भाण्डं वितस्तिगम्भीरं लवणेन प्रपूरयेत् ॥ १७ ॥
तन्मध्ये संपुटं दत्त्वा कृतमृत्सन्धिलेपनम्।

भाण्डवक्त्रं शरावेण रुद्ध्वा चुल्ल्यां विपाचयेत् ॥ १८ ॥
एतल्लवणयन्त्रं हि भिषग्भिः परिकीर्तितम् ।

एक बिलाँद (९ इंच) गहरी मिट्टीकी मजबूत हाँडी ले, उसके चौथाई ($\frac{1}{4}$) भागमें नमकका चूर्ण बिछा, जिस द्रव्यको लवणयन्त्रमें पकाना हो उसको दो मिट्टीके सकोरोंके बीचमें रख, सकोरोंकी सन्धिको कपड़मिट्टी करके हाँडीके बीचमें रखे । हाँडीके शेष भागको नमकके चूर्णसे भर, हाँडीके मुँहपर उतना ही चौड़ा सकोरा उलटा रख, सन्धिमें कपड़मिट्टी करके हाँडीको चूल्हेपर चढ़ाकर ग्रन्थमें लिखे हुए समय तक या ऊपर घास रखनेपर वह जलने लगे वहाँतक पकावे, इसको **लवणयन्त्र** कहते हैं । लवणयन्त्रका उपयोग 'मृगाङ्क' आदि रसोंके पकानेमें होता है । लवणके बदले हाँडीमें क्षार-भस्म (श्वेतवर्णकी वनस्पतिकी राख) भरनेसे **भस्मयन्त्र** बनता है । भस्मयन्त्रका उपयोग हरताल् आदिकी भस्म बनानेमें होता है ॥ १७ ॥ १८ ॥—

पातालयन्त्र—

भिलावाँ आदि कई द्रव्योंसे पातालयन्त्रद्वारा **तेल** या **चुआ** निकाला जाता है । अतः पातालयन्त्रकी विधि लिखते हैं—एक लोहेकी कड़ाहीको बीचमेंसे मिट्टीके घड़ेका मुँह उसमें आ सके इतेना गोल कटवा ले । पीछे उस कड़ाहीको लोहेकी तिपाई पर रखे । जिस द्रव्यका स्नेह या चुआ निकालना हो उसको छोटे (सँकरे) मुँहके-मजबूत मिट्टीके घड़ेमें भर, घड़ेके मुँहपर लोहेकी जाली लोहेके तारसे बाँधकर कड़ाहीके बीचके छिद्रसे गलेका मुँह नीचे बाहर आ जाय ऐसे रख दे । घड़ेके मुँहके ठीक नीचे जमीन-पर एक बड़ा चीनी मिट्टीका प्याला रखे । पीछे घड़ेके ऊपर उपलों या कोयलोंकी आँच दे । अग्निकी गरमीसे घड़ेके अंदरके द्रव्यका स्नेह चूकर नीचेके प्यालेमें इकट्ठा होगा । उसको कपड़ेसे छानकर शीशीमें भर ले । घड़ेके स्थानपर कपड़मिट्टीकी हुई शीशी भी काममें ले सकते हैं । इस यन्त्रको **पातालयन्त्र** कहते हैं ।

वक्तव्य—रसग्रन्थोंमें और भी अनेक प्रकारके यन्त्र लिखे हैं । जिन यन्त्रोंका विशेषतया काम पड़ता है उन्हीका विधान यहाँ लिखा गया है ।

वह्निमृत्स्ना—

खटिकापटुकिट्टैश्च महिषीदुग्धमर्दितैः ॥ १९ ॥
वह्निमृत्स्ना भवेद्धोरवह्नितापसहा खलु ।
एतया मृत्स्नया रुद्धो न गन्तुं क्षमते रसः ॥ २० ॥

खड़िया मिट्टी, नमक और लोहकिट्ट (मण्डूर) इन तीनोंका कपड़छान चूर्ण समान मात्रामें ले, भैंसके दूधमें खूब घोटकर रख दे । इसको **वह्निमृत्स्ना** (Fire-clay) कहते हैं । यह मिट्टी तीव्र अग्निके तापको सहन कर सकती है । पात्र और ढक्कनकी सन्धिको इस मिट्टीसे बंद कर सारे पात्रके ऊपर इसीसे कपड़मिट्टी कर देनेसे भीतर रखा हुआ पारद, हरताल आदि द्रव्य सामान्य आँचपर उड़ नहीं सकता ॥ १९ ॥ २० ॥

तोयमृत्स्ना—

लेहवत्कृतबब्बूलक्वाथेन परिमर्दितम्।
जीर्णकिट्टरजः सूक्ष्मं गुडचूर्णसमन्वितम् ॥ २१ ॥
इयं हि जलमृत् प्रोक्ता दुर्भेद्या सलिलैः खलु।

बबूलके वृक्षकी छालके लेहमें पुराने मण्डूरका चूर्ण, गुड़ और चूना मिलाकर खूब घोटनेसे जलमृत्तिका बनती है। यन्त्रकी संधिको इसका लेप देकर सुखा देनेके बाद उस यन्त्रमें जल भरनेसे या यन्त्रको जलमें रखनेसे यन्त्रके भीतर जलका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २१ ॥—

पुटलक्षणम्—

रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम् ॥ २२ ॥
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपक्वं हितमौषधम्।

जिससे रस, धातु आदिके पाक(पकने)के प्रमाणका ज्ञान होता है उसको **पुट** कहते हैं। सामान्य भाषामें धातु आदिको वनस्पतियोंके स्वरसोंमें घोट, टिकियाँ बना, सुखा, संपुटमें रखकर अग्निमें पकानेकी क्रियाको **पुट देना** कहते हैं। पुटोंका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि कम या अधिक (मृदु या कड़ी अग्निमें) पका हुआ औषध हानि करता है और अच्छीतरह पका हुआ औषध ही हितकारक होता है ॥ २२ ॥—

पुटफलम्—

लोहादेरपुनर्भावो दोषहानिर्गुणोदयः ॥ २३ ॥
न चाप्सु मज्जनं रेखापूर्णता पुटतो भवेत्।
तथा गुरोर्लघुत्वं च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम् ॥ २४ ॥
यथा यथा विशेद्वह्निर्बहिःस्थपुटयोगतः।
चूर्णत्वाप्तिर्गुणावाप्तिस्तथा लोहेषु निश्चितम् ॥ २५ ॥

धातुओंको पुट देनेसे उनकी निरुत्थ, वारितर और रेखापूर्ण भस्म होती है। धातुओंका गुरुत्व नष्ट होकर भस्ममें लघुत्व आता है। भस्म बननेसे धातु शरीरके अणुओंमें शीघ्र फैल जाती है और शरीरस्थ अग्निको प्रदीप्त (पचनक्षम) करती है या शरीरस्थ अग्निद्वारा पचने योग्य होती है। धातुओंकी भस्म बननेसे उनके शरीरपर हानि करनेवाले दोष नष्ट होते हैं और उनमें गुणवृद्धि तथा गुणान्तरोदय होता है। यह निश्चित बात है कि—जैसे-जैसे पुटोंके द्वारा धातुओंका अग्निसे संयोग होता है वैसे-वैसे धातुओंका सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम चूर्ण बनता है और धातुओंके गुण बढ़ते हैं ॥ २३–२५ ॥

१ लेह बनानेकी विधि इसी खण्डमें पृ. ४२–४४ पर लिखी है। उसके अनुसार लेह बना ले।

महापुटम्—

निम्ने विस्तरतो गर्ते द्विहस्ते वर्तुले तथा ।
वनोपलसहस्रेण पूरिते पुटनौषधम् ॥ २६ ॥
क्रौञ्च्यां रुद्धं प्रयत्नेन मध्येगर्तं निधापयेत् ।
वनोपलसहस्रार्धं क्रौञ्चिकोपरि विन्यसेत् ॥ २७ ॥
वह्निं प्रज्वालयेत्तत्र महापुटमिदं स्मृतम् ।

जमीनमें दो हाथ गहरा और दो हाथ चौड़ा गोल खड्ढा बना, उसमें एक हजार जंगली उपले भर, बीचमें औषधद्रव्यसे भरा हुआ संपुट रख; ऊपर दूसरे पाँच सौ जंगली उपले भरकर उसमें अग्नि जला दे। इसको महापुट कहते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥ —

गजपुटम्—

गजहस्तप्रमाणेन विस्तृतं चैव निम्नकम् ॥ २८ ॥
गर्तं विधाय तस्यार्धं पूरयेद्वनजोपलैः ।
विन्यसेत् संपुटं तत्र पुटनद्रव्यपूरितम् ॥ २९ ॥
प्रपूर्य शेषं गर्तं तु गिरिण्डैर्वह्निना दहेत् ।
एतद्गजपुटं प्रोक्तं महागुणविधायकम् ॥ ३० ॥

जमीनमें सवा हाथ (२२॥ इंच) गहरा और चौड़ा खड्ढा बना, उसमें आधेतक जंगली उपले भर, बीचमें औषधद्रव्यसे भरा हुआ संपुट रख, ऊपर कण्ठतक और उपले भर कर अग्नि जला दे। इसको गजपुट कहते हैं ॥ २८–३० ॥

वाराहपुटम्—

इत्थं चारत्निके गर्ते पुटं वाराहमुच्यते ।

एक अरत्नि(२२ अङ्गुल)जितना चौड़ा और गहरा गड्ढा बना, उसमें आधे तक जंगली उपले भर, बीचमें औषधभरा हुआ संपुट रख, गड्ढेके शेष भागको उपलोंसे भरकर अग्नि जला दे। इसको वाराहपुट कहते हैं ॥—

कुक्कटपुटम्—

षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं पुटं कुक्कुटकं मतम् ॥ ३१ ॥

सोलह अंगुल गहरा और चौड़ा खड्ढा बना, उसमें आधेतक जंगली उपले भर, बीचमें औषधद्रव्यसे भरा हुआ संपुट रख, ऊपर और उपले भरकर अग्नि जला दे। इसको कुक्कुटपुट कहते हैं ॥ ३१ ॥

कपोतपुटम्—

यत् पुटं दीयते भूमावष्टसंख्यैर्वनोपलैः ।
बद्धसूतकभस्मार्थं कपोतपुटमुच्यते ॥ ३२ ॥

जमीनके अंदर एक बिलाँद (९ इंच) गहरा और चौड़ा खड्डा बना कर आठ जंगली उपलोंकी आँच दे। इसको **कपोतपुट** कहते हैं। अग्निस्थायी बनाए हुए पारदको पुट देनेके लिये अथवा सोने, नाग और चाँदीको प्रारंभके पुट देनेके लिये कपोतपुटका उपयोग होता है ॥ ३२ ॥

गोवरपुटम्—

गोष्ठान्तर्गोक्षुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम् ।
गोवरं तत् समाख्यातं वरिष्ठं रससाधने ॥ ३३ ॥
गोवरैर्वा तुषैर्वाऽपि पुटं यत्र प्रदीयते ।
तद्गोर्वरपुटं प्रोक्तं सिद्धये रसभस्मनः ॥ ३४ ॥

जहाँ गौएँ चरती हैं ऐसे स्थलमें गौओंके खुरोंसे खूंदा हुआ सूखा और चूर्णीभूत जो गोमय होता है उसको गोव(ब)र कहते हैं। एक गड्ढे या हाँडीमें गोबर या धानके छिलकोंके बीचमें संपुटको रखकर अग्नि जला दे, उसको **गोवरपुट** कहते हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

भाण्डपुटम्—

स्थूलभाण्डे तुषापूर्णे मध्ये मूषासमन्विते ।
वह्निना विहिते पाके तद्भाण्डपुटमुच्यते ॥ ३५ ॥

एक मिट्टीके बड़े घड़ेमें धानकी भूसी(छिलकों)को दबा-दबाकर आधेतक भर बीचमें औषधसे भरा हुआ संपुट रख, ऊपर दूसरी धानकी भूसी दबा-दबाकर भरके उसमें अग्नि जला दे, इसको **भाण्डपुट** कहते हैं ॥ ३५ ॥

लावकपुटम्—

ऊर्ध्वं षोडशिकामात्रैस्तुषैर्वा गोवरैः पुटम् ।
दीयते लावकाख्यं तत् सुमृदुद्रव्यसाधने ॥ ३६ ॥

जमीनके ऊपर १६ तोला धानका छिलका या गोबरके बीचमें संपुट रखकर अग्नि जला दे, उसको **लावकपुट** कहते हैं। जो द्रव्य विशेष मृदु (अग्निको न सहन करनेवाले) हों उनका पाक करनेके लिये इस पुटका उपयोग किया जाता है ॥ ३६ ॥

शुष्कगोमयपर्यायाः—

गोवरं छगणं छा(शा)णमुपलं चोत्पलं तथा ।
गिरिण्डोपलसाटी च संशुष्कगोमयाभिधाः ॥ ३७ ॥

गोवर, छगण, छाण (शाण), उपल, उत्पल, गिरिण्ड और उपलसाटि ये सूखे गोमयके पर्यायनाम हैं ॥ ३७ ॥

अनुक्तपुटमानपरिभाषा—

अनुक्ते पुटमाने तु साध्यद्रव्यबलाबलम्।
पुटं विज्ञाय दातव्यमूहापोहविचक्षणैः॥ ३८॥

जहाँ कौनसा पुट देना यह स्पष्टतया न लिखा हो वहाँ जिस द्रव्यको पुट देना है वह द्रव्य कितनी अग्नि सहन कर सकता है और कितने प्रमाणमें है, इसका विचार करके कौनसा पुट देना इसका निर्णय करना चाहिये॥ ३८॥

अभ्रादिमारणे पुटसंख्या—

शतादिस्तु सहस्रान्तः पुटो देयो रसायने।
दशादिस्तु शतान्तः स्याद्व्याधिनाशनकर्मणि॥ ३९॥
सहस्रपुटपक्षे तु भावना पुटनं भवेत्।
मर्दनं तु तथा न स्यादिति प्राचां हि संमतम्॥ ४०॥
(आयुर्वेदप्रकाश)

यदि रसायनगुणके लिये भस्म बनानी हो तो एक सौसे ऊपर हजारतक पुट देने चाहिये। यदि केवल रोगनिवारणके लिये भस्म बनानी हो तो दशसे सौतक पुट देने चाहिये। सौतक पुट देने हों तो वनस्पतिके स्वरसकी भावना देकर अच्छी तरह मर्दन करके पीछे पुट देने चाहिये। सौके ऊपर हजारतक पुट देने हों तो एक सौ पुटके बाद स्वरसोंकी भावना दे, सामान्य मर्दन करके पुट देने चाहिये, यह प्राचीन रसाचार्योंका मत है। भस्मका मर्दनसे जितना सूक्ष्मीकरण हो सकता है उतना सौ पुटतक मर्दन करनेसे हो जाता है। सौ पुटके बाद मर्दनसे विशेष सूक्ष्मीकरण नहीं होता। अतः सौ पुटके बाद स्वरस डाल, साधारण मर्दन करके पुट देना चाहिये। विशेष मर्दनका परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है॥ ३९॥ ४०॥

मूषापर्यायाः—

मूषा हि क्रौञ्चिका प्रोक्ता कुमुदी करहाटिका।
पाचनी वह्निमित्रा च रसवादिभिरीर्यते॥ ४१॥

मूषा, क्रौञ्चिका (क्रौंची), कुमुदी, करहाटिका, पाचनी और वह्निमित्रा ये मूषाके पर्यायनाम हैं॥ ४१॥

वक्तव्य—धातुओंको गलाने और सत्त्वपातन करनेके लिये छोटी-बड़ी उत्तम प्रकारकी मूषाएँ आजकल बाजारमें तैयार मिलती हैं। यथावश्यक उन्हींको खरीद ले। आजकल उनके बनानेकी झंझटमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। रसग्रन्थोंमें धातुओंको गलाने या सत्त्वपातन करनेके लिये जो मूषाएँ बनाई जाती हैं, तथा पुट देनेके लिये सकोरों या तवोंका जो संपुट बनाया जाता है, इन दोनोंके लिये सामान्यतः **मूषा** शब्दका प्रयोग किया जाता है।

भस्म बनाने और पुट देनेके विषयमें आवश्यक सूचनाएँ—

भस्म बनानेमें जब पारा, हिङ्गुल, संखिया, गन्धक, हरताल, मैनसिल आदि अग्निपर उड़नेवाले द्रव्य मिलाये गये हों तब संपुटकी संधिको कपरौटीकी मिट्टीसे बंद कर, संपुटको चारों ओरसे कपड़मिट्टी करके पुट देना चाहिये। परंतु जब पारा, गन्धक जैसी अग्निपर उड़नेवाली वस्तु उसमें न डाली गई हो तब संपुटकी सन्धिको उसमें हवा जाती रहे इस प्रकार खुली ही रखनी चाहिये। संपुटकी सन्धि खुली रखनेसे आँच ठीक लगती है और भस्मका रंग अच्छा आता है। कई वैद्य मिट्टीके हाँडी-घड़े जैसे पात्रमें टिकिया भरकर पुट देते हैं, परंतु ऐसे करनेसे बीचतक आँच एक सी नहीं लगती। अतः मिट्टीके दो तवोंके बीचमें टिकिया रखकर पुट देना चाहिये, जिससे सब टिकियोंको एक सी आँच लगे। तवोंके बीच टिकियोंकी दो ही तह(स्तर) रखनी चाहिये और तवे भी इतने गहरे न लेने चाहिये कि बीचमें अधिक अवकाश रहे। बीचमें अधिक जगह खाली रहनेसे भी आँच ठीक नहीं लगती। टिकियाँ गोल न बनाकर चिपटी ही बनानी चाहिये। टिकियोंको अच्छीतरह सुखानेके बाद ही पुट देना चाहिये। यदि टिकियाँ कुछ गीली होंगी तो भस्मका रंग अच्छा नहीं आवेगा। अभ्रक, लोह, मण्डूर, माक्षीक, वंग, जस्ता, ताम्र और रत्नोंको प्रारंभमें कड़ी और पीछे मंदी आँच देनी चाहिये। पीछेके पुटोंमें उनको कड़ी आँच देनेसे भस्म कड़ी हो जाती है, मृदु-मुलायम नहीं बनती। सोना, चाँदी और नागको प्रारम्भके पुटोंमें बहुत मंदी आँच देनी चाहिये और पीछे जैसे-जैसे वे अग्निसह होते जायँ वैसे-वैसे क्रमसे आँच बढ़ानी चाहिये। कोई भी भस्म तैयार होनेके बाद उसमें किसी रसविशेष(अम्ल, कषाय आदि)का स्वाद न रहना चाहिये। अर्थात् भस्म आस्वादरहित (बेजायका) और जीभको न लगे ऐसी होनी चाहिये। जबतक ऐसी न बने तब तक पुट देते रहना चाहिये। भस्म तैयार होनेके पीछे उसको दो तीन दिन खूब घोटकर महीन रेशमी कपड़ेसे छान लेना चाहिये। भस्म बनाते समय उसमें वनस्पतिका स्वरस देकर ६–८ घण्टेतक उसको अच्छी तरह घोटना चाहिये। ठीक घुटाई न हुई हो तो भस्म बननेमें देरी लगेगी और भस्म बारीक तथा मुलायम न बनेगी। भस्म बनाते समय ऊपर लिखी हुई सूचनाएँ खास ध्यानमें रखनी चाहिये।

भस्म बनानेमें जहाँतक बने जंगली उपलोंकी आँच दे। यदि वे न मिल सकें तो

---

१ इस प्रकार सन्धिलेप और कपड़मिट्टी करके पुट देनेसे धातुद्रव्योंका पारे आदिके साथ अग्निपर अधिक समय संपर्क रहनेसे भस्म शीघ्र और अच्छी बनती है। संपुट स्वांग-शीतल होनपर ही पुटसे निकालना चाहिये।

हाथके बनाए हुए उपलोंकी आँच दे। बड़े शहरोंमें उपलोंके जलानेसे धुएँका भय हो तो अच्छी लकड़ीके कोयलोंकी आँच दे सकते हैं।

कपड़मिट्टी-कपड़ौ(रौ)टी—मुलतानी मिट्टी, खड़िया मिट्टी या चीनी मिट्टी १ सेर ले, उसको कूटकर छलनीसे छान ले। पीछे उसमें १० तोला रूई मिला, पानी डालकर इमामदस्तेमें इतनी कुटाई करे कि रूई मिट्टीमें मिलकर एकजीव हो जाय। बादमें इस मिट्टीको कपड़ेपर लगाकर या उसकी पतली रोटी बनाकर शीशीके पेंदेसे शीशीके मुँहसे २-३ अंगुल नीचेतक लगा दे। इसके सूखनेपर इसी प्रकार दो तह और चढ़ा दे। मिट्टी सूखनेपर जहाँ दरार पड़ जाय वहाँ मिट्टीका लेप देकर उसे बंद कर दे। मिट्टी आधी सूखने पर अंगुलीको जरा पानीमें भिगोकर कपरौटीपर रगड़नेसे शीशीपर कपड़मिट्टी अच्छी जम जाती है। इस प्रकार तीन बार कपड़मिट्टी लगाई हुई शीशी खूब अग्निसह हो जाती हैं। रससिन्दूर, चन्द्रोदय आदि बनानेके लिये शीशीको इस प्रकार कपड़मिट्टी करना चाहिये। अन्य संपुटोंकी सन्धिको इस प्रकार बनाई हुई मिट्टीसे बंदकर ऊपर दो तीन कपड़मिट्टी चढ़ा देनेसे उसके अंदरके आँचपर उड़नेवाले द्रव्य शीघ्र उड़ने नहीं पाते।

कपड़मिट्टी निकालना और शीशीको तोड़ना—

कूपीपक्व रस तैयार हो जानेपर शीशीको मुँहसे पकड़, कपड़मिट्टीको पानीकी धारसे भिगो, चाकूसे खुरचकर सब मिट्टी निकाल दे। बाद मिट्टीके तेलमें भिगोई हुई सुतली शीशीके मध्यमें लपेटकर उसे दियासलाईसे जला दे। जब सारी सुतली जल जाय तब तुरत उसके ऊपर ठंढा पानी छिड़क दे। ठंढा पानी छिड़कते ही शीशी बीचमेंसे तड़क कर दो टुकड़े हो जायगी। इस प्रकार शीशी तोड़नेसे औषधमें काचके टुकड़े मिल जानेका भय नहीं रहता।

अन्य उपकरण.

चलनी-छलनी—

चूर्णको छाननेके लिये लकड़ीकी बनी हुई बीचमें १० से १०० नम्बर तककी जाली-वाली चलनियाँ बाजारमें तैयार मिलती हैं, उनको यथावश्यक खरीद ले। क्वाथके लिये जौकुट चूर्ण बनानेके लिये १० नम्बरकी जालीवाली हुई, साधारण चूर्णोंके लिये ६० या ७० नम्बरकी जालीवाली और गोली तथा रसयोगोंके लिये ८० या १०० नम्बरकी जालीवाली हुई चलनी काममें लेनी चाहिये। चूर्ण छाननेके बाद प्रतिवार उसको ब्रशसे साफ कर लेना आवश्यक है। नमकवाले या शक्करवाले चूर्ण छाननेके बाद चलनीको जलसे अवश्य धो लेना चाहिये। चूर्ण छाननेके लिये सूती कपड़ा भी काममें आता है। सूती कपड़ेसे चूर्ण छानना हो तो कपड़ेको एक चौड़े और गहरे पात्रके ऊपर खूब कसके बाँधकर धोये हुए स्वच्छ हाथसे दबाकर चूर्ण छानना चाहिये।

धातुओंकी भस्मों एवं रत्नोंकी पिष्टिको महीन रेशमी कपड़ेसे छानना चाहिये। प्रत्येक वार चूर्ण छाननेके बाद वस्त्रको जलसे धो लेना चाहिये।

तुला (तराजू-काँटा)—

राईसे लेकर २० तोले तक वजन करनेके लिये छोटा पीतलका अच्छी निकलका गिलट (मुलम्मा) किया हुआ तथा आधेसे दस सेरतक वजन करनेके लिये अच्छे लोहेका ऐसे दो तीन प्रकारके काँटे रखने चाहिये। काँटे छोटे-बड़े बाजारमें तैयार मिलते हैं।

बाँट और नाप (माप)—

बाँट और नापके विषयमें इसी खंडमें पृ० ५–१० पर विस्तारसे लिखा है। इस विषयको वहीं देखें। बिन्दुओं (बूँदों)की नापके लिये काचके **मिनिम ग्लास** बाजारमें मिलते हैं। उनसे काम लिया जा सकता है।

सरौता—

गन्ने या सुपारी काटनेके उत्तम फौलादके बड़े सरौते बाजारमें मिलते हैं। मूल, शाखा आदिके टुकड़े करनेके लिये उन्हें खरीद ले या अपनी आवश्यकतानुसार सरौते बनवा ले। सीधी करौतके आकारके लकड़ीका हत्था लगे हुए, धारदार काटनेके औज़ार बड़े शहरोंमें मिलते हैं। उनसे भी मूल-शाखा आदि काटनेका काम अच्छी तरह लिया सकता है।

चाकू-छुरी—

नीबू आदि खट्टे फलोंको काटनेके लिये जंग न लगनेवाले फौलाद (Stainless-steel) के चाकू काममें लेने चाहिये। भस्म, रस आदिको द्रवमें घोटते समय हिलानेके लिये बेधारके आगेसे गोल तथा जंग न लगनेवाले फौलादके या लकड़ीके छुरे काममें लेने चाहियें।

चम्मच, करछी, खोंचे—

चम्मच, करछी और खोंचे (कोंचे-खुरपे) लोहेके, अच्छी कलई किये हुए पीतलके, एनामल किये हुए लोहेके या लकड़ीके लेने चाहिये। च्यवनप्राश जैसे अवलेह जिनमें खटाईका अंश हो उनको हिलानेके लिये लकड़ीका खोंचा ही काममें लेना चाहिये।

औषधनिर्माणके लिये पात्र—

औषधनिर्माणके लिये कड़ाही, टोप (पतीली), थाली, तश्तरी (रिकाबी), प्याले, कटोरी आदि अन्य पात्र यथावश्यक मिट्टीके, चीनी मिट्टीके, एनामलके, फौलादके, जंग न लगनेवाले फौलादके, अच्छी कलई किये हुए ताँबे, पीतल आदि धातुओंके या लकड़ीके

उपयोगमें लेने चाहिये। उपयोगमें लेनेके बाद (और उपयोगमें लेनेके पहले भी) उनको राख या मिट्टीसे माँज और जलसे धोकर उसमें बनी हुई दवाका गन्ध और लेप न रहे इस प्रकार शुद्ध कर लेना चाहिये ("यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः। तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु॥" **मनुस्मृति** अ. ५ श्लो. १२६)।

अंगीठी—

आजकल बाजारमें मिट्टी और लोहेकी अनेक प्रकारकी अंगीठियाँ तैयार मिलती हैं। उनको खरीद ले या आवश्यकतानुसार नई बनवा ले। आजकल बड़े शहरोंमें लकड़ीके स्थानपर कोयले जलानेका प्रचार बढ़ रहा है। यदि चन्द्रोदय आदि कूपीपक्व रस बनाने और धातुओंको पुट देनेके लिये अंगीठी बनवानी हो तो २४ इंच ऊँची, १२ इंच चौड़ी, अन्दरके भागमें १४ इंचपर जाली लगी हुई बनवानी चाहिये। जालीके नीचेके भागमें राख निकालनेके लिये और ऊपरके भागमें कोयले देनेके लिये द्वार बनवाना चाहिये। जालीके नीचेके भागमें चारोंतरफ दीवारमें आधे इंच चौड़े गोल छिद्र बनवाने चाहिये, जिनके द्वारा अग्निको चारों ओरसे ठीक हवा मिलती रहे। अंगीठीके नीचे पाँच इंच ऊँचे ३ पाये लगवाने चाहिये, जिससे अँगीठी जमीनसे पाँच इंच ऊँची रहे और जमीन अधिक गरम न होने पावे। जमीन अधिक गरम होनेपर बार-बार उसपर ठंडा पानी छिड़कना चाहिये।

चूल्हा—

क्वाथ, अवलेह, घृत-तैल, कूपीपक्व रस आदि बनानेके लिये यथावश्यक छोटे-बड़े दो तीन चूल्हे बनवाने चाहिये। चूल्हे ईंटोंसे सीमेन्ट लगाकर पक्के बनवा लेना अच्छा है। चूल्हेमें लकड़ी देने और राख निकालनेके लिये नीचे द्वार बनवाना चाहिये। चूल्हा भीतरसे चौड़ा और ऊपरसे सँकराई लेता हुआ होना चाहिये। चूल्हा बनाते समय थोड़ी थोड़ी दूर ऊपरकी ओर निकलती हुई ३-४ लोहेकी नलियाँ धुआँ निकलने और हवा जानेके लिये लगवानी चाहिये।

ईंधन—

कंडा (उपला), बबूल-खैर-बेर आदि सारवान लकड़ी और उनके कोयले ईंधनके लिये उत्तम हैं। आजकल गैस निकाले हुए पत्थरके कोयले (कोक) भी ईन्धनके काममें लिये जाते हैं। भस्मोंको पुट देनेके लिये कंडेकी अग्नि उत्तम है। उसके अभावमें या बड़े शहरोंमें धूएँके त्रासके कारण कंडे जलानेकी सुविधा न हो तो लकड़ीके कोयले काममें लिये जा सकते हैं। इस काममें कोकका प्रयोग करना ठीक नहीं है। बड़े शहरोंमें जहाँ गैस और बिजलीकी सुविधा हो वहाँ पुट देनेके सिवाय अन्य कर्मोंमें इनका उपयोग करनेमें कोई हानि नहीं है।

चिमटा, सँडसी—

चिमटा लोहेका और सँडसी लोहे या पीतलकी सीधे मुँहकी और अग्रभागमें मुड़े हुए मुँहकी छोटी-बड़ी रखनी चाहिये।

भस्त्रा-पंखा—

आगको प्रज्वलित करनेकेलिये बाँसकी नली, धौंकनी (भाथी) और हाथसे चलानेके मशीन(यन्त्र)के पंखे रखने चाहिये।

सिद्धौषध रखनेके पात्र—

सिद्धौषध रखनेके लिये काचकी शीशी (बोतल) और बरनी जिसमें वायुका प्रवेश न हो सके ऐसे ढक्कनकी (स्टॉपर्ड) सबसे उत्तम है। उसके पीछे पेचदार ढक्कनकी ढक्कनमें रबरका वायसर लगी हुई चीनी मिट्टीकी बरनी है। काचकी स्टॉपर्ड शीशियोंके अभावमें अन्य शीशियोंमें औषध भर, मुँहपर अच्छी छिद्ररहित डाट(कॉर्क) जमाकर उसमें औषध रखना चाहिये। आसवोंके रखनेके लिये ढक्कनमें रबरका वायसर लगी हुई पेचदार ढक्कनकी चीनी मिट्टीकी बरनी या लकड़ीका पीप अच्छा है। मरहमोंके रखनेके लिये चीनी मिट्टी या एनामलके ढक्कनवाले डिब्बे अच्छे हैं।

वक्तव्य—यहाँ हमने उपकरणोंका संक्षेपमें वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त कैंची, करौंत, रेती, हथौड़ा, जल रखनेके पात्र आदि अन्य उपकरणोंका भी आवश्यकतानुसार संग्रह करना चाहिये।

औषधनिर्माणशाला—

औषधनिर्माणका स्थान घरमें स्वतन्त्र होना चाहिये। स्थान ऐसा बनवाना या पसंद करना चाहिये कि जिसमें वायुका संचार अच्छा हो, प्रकाश अच्छा हो, दिनमें कहींसे भी धूप आती हो, जमीनमें सील (नमी-आर्द्रता) न हो, दीमक-चूहे आदि न हों, समीपमें जलकी सुविधाकी व्यवस्था हो, धुआँ बाहर निकल जानेका प्रबन्ध हो, जल बाहर जानेके लिये नाली हो और वर्षाके समय निर्माणशालामें जल न आवे इसका प्रबन्ध हो। स्थान इतना विशाल हो कि उसमें कच्ची दवाइयाँ, सिद्धौषध, चूल्हे-भट्ठी तथा अन्य सब उपकरण रह सकें और सब प्रकारके औषधनिर्माणके काम हो सकें। इस स्थानकी दिनमें दो बार सफाई होनी चाहिये और सवेर-शाम उसमें

---

१ "संदंशी द्विविधा कार्या शुकचञ्चुश्च वायसी। दीर्घः संदंशकश्चैव हस्तमात्रोऽतिसुन्दरः॥" (रसकामधेनु उपकरणपाद, अ. २)। २ होमिओपेथिक औषधविक्रेताओंके यहाँ अच्छे छिद्ररहित और मजबूत कार्क मिलते हैं। आजकल रबरके कार्क भी बनने लगे हैं। उनको भी काममें ले सकते हैं।

उत्तुम और सुगन्धित द्रव्योंका धूप देना चाहिये । निर्माणशालामें थूकने, नाक छिड़कने, पेशाब करने आदिकी सख्त मनाही होनी चाहिये । यदि गजपुट आदिमें कंडों(उपलों)की आँच देनी हो तो उसके लिये स्वतन्त्र स्थान होना चाहिये, जिसके ऊपर छत हो और वर्षाके समय अन्दर जलका प्रवेश न हो सके ऐसा प्रबन्ध हो ।

औषधनिर्मापक—

औषधनिर्माणके लिये नौकर ऐसे रखने चाहियें जो नीरोग (स्वस्थ), शरीरसे दृढ (मजबूत), अनुरक्त, अपनी जिम्मेवारी (दायित्व) समझनेवाले, शुचि (शरीर और मनसे पवित्र), सफाईपसंद, धर्मभीरु (ईमानदार) और सामान्य पढ़े-लिखे हों । नौकर बेदरकार और बेदिल न होने चाहिये । ऐसे नौकर रखकर उनको सब प्रकारका औषधनिर्माणका कार्य सिखलाना चाहिये और सब प्रकारके औषधद्रव्यों तथा तौल-नाप आदिसे परिचित कराना चाहिये । वैद्यको सब प्रकारका औषध-निर्माणका कार्य खुदकी देखभालमें कराना चाहिये, उसको सर्वथा नौकरोंके सुपुर्द नहीं कर देना चाहिये ।

नामनिर्देशपत्र (लेबल)—

सब प्रकारकी कच्ची दवाइयों और सिद्धौषधोंपर नामनिर्देशपत्र (लेबल) लगाने चाहिये । उनपर द्रव्य या योगका नाम, बननेकी तिथि, प्रमाण, मूल्य आदि आवश्यक बातें लिखनी चाहिये ।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे उपकरणविज्ञानीयाध्यायः पञ्चमः ॥ ५ ॥

भेषजसंग्रहण-संरक्षण-विज्ञानीयाध्यायः षष्ठः

अथातो भेषजसंग्रहण-संरक्षण-विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोचुरात्रेयधन्वन्तरिप्रभृतयः ॥ १ ॥

भेषजग्रहणार्थं भूमिपरीक्षा—

श्वभ्र-शर्करा-विषम-वल्मीक-श्मशानाघातन-देवतायतन-सिकताभि-रनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधग्रहणाय परीक्षेत । × × × । एष भूमिपरीक्षाविशेषः सामान्यः । विशेषतस्तु—तत्राश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्य-तृण-कोमलवृक्षप्रायाऽम्बुगुणभूयिष्ठा; नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलाल्पपाण्डुवृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा;

रूक्षा भस्म-रासभवर्णा तनुवृक्षाऽल्परसकोटरवृक्षप्रायाऽनिलगुणभूयिष्ठा; मृद्व्यसमा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा (सु. सू. भूमिप्रविभागीयाध्यायः)॥२॥

जो भूमि बड़े खड्डे, कंकड़ (या ठीकरोंके टुकड़े) और बाँबीवाली न हो; विशेष ऊँची-नीची न हो; श्मशान, वधस्थान या देवालयकी न हो; बालू या पत्थरवाली न हो, क्षारवाली न हो, फटनेवाली न हो, जिसमें पानी बहुत गहरा न हो (या जो जलाशयसे अति दूर न हो), स्निग्ध (चिकनी मिट्टीवाली) हो, जिसमें घास आदि हमेशा उगते हों; जो नरम, स्थिर (वायु-जल आदिसे जिसकी मिट्टी चलित नहीं हुई हो ऐसी) और समतल हो तथा जिसकी मिट्टी काली, लाल या पीली हो ऐसी भूमिको औषध लेनेके लिये पसंद करे । यह औषध लेनेके लिये भूमिकी सामान्य परीक्षा है । अब प्रत्येक महाभूतकी अधिकतासे भूमिके विशेष लक्षण लिखे जाते हैं—विशेषकर जो भूमि पत्थरवाली, स्थिर (कठिन), साँवले या काले रंगकी तथा मोटे वृक्ष और घासयुक्त हो वह अपने (पृथ्वीके) अधिक गुणवाली होती है । जो भूमि चिकनी, शीतल, निकट जलवाली, स्निग्धगुणविशिष्ट धान्य और तृणयुक्त, कोमल वृक्षोंकी अधिकतावाली और श्वेत वर्णवाली हो वह जलके गुणोंकी अधिकतावाली होती है । जो भूमि नानाप्रकारके रंगोंकी मिट्टीवाली, छोटे-छोटे और हलके वजनके पत्थरवाली, कहीं-कहीं छोटे-छोटे वृक्ष और तृणाङ्कुरोंवाली हो वह अग्नि-महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाली होती है । जो भूमि रूक्ष, भस्म या गधेके जैसे रंगवाली और अधिकांश पतले, रूखे, कोटरयुक्त और थोड़े रसवाले वृक्षोंसे युक्त हो उसको वायुके गुणोंकी अधिकतावाली जानना चाहिये । जो भूमि नरम, ऊँची-नीची, खड्डोंवाली, अव्यक्त रसके (फीके) जलवाली, चारों ओर सारहीन बड़े वृक्षोंवाली, बड़े पहाड़ोंवाली और श्याम वर्णकी हो उसको आकाशके गुणोंकी अधिकतावाली जानना चाहिये ॥ २ ॥

संग्रहणयोग्यं भेषजम्—

तस्यां जातमपि कृमि-विष-शस्त्रातप-पवन-दहन-तोय-संबाध-मार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीत (सु. सू. भूमिप्रविभागीयाध्यायः) ॥ ३ ॥

तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा यथाकालं शिशिरातप-पवन-सलिल-सेविते समे शुचौ प्रदक्षिणोदके × × × कुश-रोहिषास्तीर्णे स्निग्ध-कृष्ण-मधुरमृत्तिके सुवर्णवर्ण-मधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते । तत्र यानि काल-जातान्यागतसंपूर्णरस-प्रमाण-गन्धानि कालातपाग्नि-सलिल-पवन-जन्तुभिरनुपहतगन्ध-वर्ण-रस-स्पर्श-प्रभावाणि प्रत्यग्राणि × × × (तानि)

मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः संपूज्य देवता अश्विनौ गो-ब्राह्मणांश्च प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात् ॥ ४ ॥ (च. क. अ. १)

धन्वे साधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ ।
श्मशान-चैत्यायतनश्वभ्र-वल्मीकवर्जिते ॥ ५ ॥
मृदौ प्रदक्षिणजले कुश-रोहिषसंस्तृते ।
अफालकृष्टेऽनाक्रान्ते पादपैर्बलवत्तरैः ॥ ६ ॥
शस्यते भेषजं जातं युक्तं वर्ण-रसादिभिः ।
जन्त्वजग्धं दवादग्धमविदग्धं च वैकृतैः ॥ ७ ॥
भूतैश्छायातपाम्बवाद्यैर्यथाकालं च सेवितम् ।
अवगाढमहामूलमुदीचीं दिशमाश्रितम् ॥ ८ ॥
अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः ।
गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत् ॥ ९ ॥
सक्षीरं तदसंपत्तावनतिक्रान्तवत्सरम् । (अ. हृ. क. अ. ६)

जो देश समतल भूमिवाला हो; जहाँकी मिट्टी अच्छी चिकनी, नरम, मधुररसवाली तथा काले, पीले (और लाल) रंगकी हो; जहाँ जलकी अनुकूलता हो; जहाँ कुश और रोसेकी घास विपुलतासे उगती हो; जो काल(ऋतु)के अनुसार छाया, शीत, धूप वायु और जल(वर्षा)से सेवित हो; जहाँ हलसे ज़मीन न जोती जाती हो; जहाँ श्मशान, चैत्य (देवालय); वधस्थान, बड़ा खड्डा और बँबी न हो; ऐसे पवित्र (स्वच्छ) जांगल या साधारण देशमें उत्पन्न हुई, कृमि (कीड़े,)-विष-शस्त्र-कड़ी धूप-जोरकी हवा–जोरकी वर्षा–अग्नि (दावानल) आदिसे दूषित (उपहत-विकृत-बिगड़ी) हुई न हो[१], जो तंग जगहमें या मार्ग(सड़क)में उत्पन्न हुई न हो, जो अन्य बड़े वृक्षोंसे ढकी हुई न हो, जिसकी जड़ें जमीनमें गहरी गई हुई और बड़ी हों, जो पुष्ट हो तथा जिसमें संपूर्ण रस-वर्ण-गन्ध और प्रमाण उत्पन्न हो गये (आगये) हों तथा जो अपनी ऋतु (मौसिम)में उत्पन्न हुई हो ऐसी ओषधि औषधके लिये लेनी चाहिये । ओषधि लेते समय पवित्र होकर, श्वेतवस्त्र धारण कर, शुद्धमना हो, श्रद्धापूर्वक इष्ट देव-अश्विनीकुमार-गाय और ब्राह्मणोंका मानसिक पूजन कर, पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके ओषधिका ग्रहण करे ॥ ३–९ ॥—

औषधग्रहणकालः—

तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षा-वसन्तयोर्ग्राह्यं, ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा शीर्ण-प्ररूढपर्णानां, शरदि त्वक्कन्द-क्षीराणि, हेमन्ते साराणि, यथर्तु पुष्पफलमिति ॥ १० ॥ (च. क. अ. १) ।

---

१ शार्ङ्गधरने हिम(पाले)से मरी हुई ओषधि लेनेका निषेध किया है—"जन्तु-वह्नि-हिमैर्व्याप्ता नौषध्यः कार्यसिद्धिदाः" (शा. प्र. अ. १) ।

ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे चेति कथनेन यान्याग्नेयानि तेषां मूलानि ग्रीष्मे, यानि सौम्यानि तेषां शिशिरे ग्राह्याणीति व्यवस्थां सूचयति; उक्तं ह्यन्यत्र—सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेयेषु ॥" इति (सु. सू. अ. ३६) (च. द.)। मधुर-तिक्त-कषायाणि सौम्यानि, शेषाण्याग्नेयानि। वर्षा-शरद्धेमन्ताः सौम्याः, शेषास्त्वथ आग्नेयाः" (इन्दुः अ. सं. क. अ. ८)।

अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृड्वर्षा-शरद्धेमन्त-वसन्त-ग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूल-पत्र-त्वक्-क्षीर-सार-फलान्याददीतेति; तत्तु न सम्यक्, कस्मात्? सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेयेषु; एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति[1]। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि अतिमधुर-स्निग्धशीतानि भवन्ति। एतेन शेषं व्याख्यातम् (सु. सू. भूमिप्रविभागीयाध्यायः) ॥ ११ ॥

शरद्यखिलकार्यार्थं ग्राह्यं सरसमौषधम्।
विरेक-वमनार्थं च वसन्तान्ते समाहरेत् ॥ १२ ॥
(शा. प्र. अ. १)।

कन्दं हिमतौं, शिशिरे च मूलं, पुष्पं वसन्ते, फलदं वदन्ति।
प्रवाल-पत्राणि निदाघकाले-स्युः पञ्च जातानि शरत्प्रयोगे ॥ १३ ॥
(रा. नि. अ. २)।

सर्वाण्येव चाभिनवानि। तेषामसंपत्तावनतिक्रान्तसंवत्सराणि, अन्यत्र मधु-घृत-गुड-पिप्पली-विडङ्गेभ्यः ॥ १४ ॥

विगन्धेनापरामृष्टमविपन्नं रसादिभिः।
नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेवं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥
(सु. सू. भू. प्र. अ.)।

नवान्येव हि योज्यानि द्रव्याण्यखिलकर्मसु।
विना विडङ्ग-कृष्णाभ्यां गुड-धान्याज्य-माक्षिकैः ॥ १६ ॥
(शा. प्र. ख. अ. १)।

किस ऋतुमें ओषधियोंका कौनसा अंग लेना चाहिये इस विषयमें चरक कहते हैं कि—ऊपर लिखे हुए गुणोंसे संपन्न ओषधियोंके शाखा और पत्र जो पुराने न हों (मध्यमावस्थामें हों) वे वर्षा और वसन्त ऋतुमें लेने चाहिये। ग्रीष्म अथवा शिशिर ऋतुमें जब ओषधियोंके पत्र गिर गये हों अथवा गिरकर नये आये हों उस समय उनके मूल लेने चाहियें। शरद् ऋतुमें (वर्षाके बाद और शीतके पूर्वमें) छाल,

---

१ "एवमव्यापन्नान्यापूर्णतररसवीर्याणि च भवन्ति" इत्यष्टाङ्गसंग्रहे।

कंद और क्षीर लेने चाहिये। हेमन्तमें वृक्षोंका सार (हीर-मध्यका ठोस काष्ठ) लेना चाहिये। फूल और फल जिस ऋतुमें होते हों उस ऋतुमें लेने चाहिये। **सुश्रुत** कहते हैं कि—कई आचार्योंका मत है कि—प्रावृड् ऋतुमें मूल, वर्षामें पत्र, शरद्में छाल, वसन्तमें सार और ग्रीष्ममें फल लेने चाहिये। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। जो ओषधियाँ सौम्य (मधुर, तिक्त और कषाय रसवाली) हैं उनको सौम्य (वर्षा शरद् और हेमन्त) ऋतुमें और जो आग्नेय (कटु, अम्ल और लवण रसवाली) हैं उनको आग्नेय (वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृड्) ऋतुमें लेना चाहिये। सौम्य ओषधियाँ सोमगुणाधिक भूमिसे और सौम्य ऋतुओंमें लेनेसे अति मधुर, स्निग्ध और शीतगुणवाली होती हैं। इस प्रकार आग्नेय ओषधियोंके विषयमें भी जानना चाहिये। समानगुणवाली भूमिसे समान गुणवाली ऋतुमें ली हुई ओषधि अव्यापन्न तथा अधिक रस और वीर्यवाली होती है। **शार्ङ्गधर** कहते हैं कि—वमन तथा विरेचनके लिये वसन्तके अन्तमें ओषधियाँ लेनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य ओषधियाँ शरत्कालमें और सरस (ताजी) लेनी चाहिये। **राजनिघण्टुमें** लिखा है कि—हेमन्तमें लिया हुआ कन्द, शिशिरमें लिया हुआ मूल, वसन्तमें लिया हुआ पुष्प और ग्रीष्ममें लिया हुआ पत्र गुणकारक होता है। शरत्कालमें लिये हुए पाँचों अंग गुण देनेवाले होते हैं। सब कार्योंके लिये सब प्रकारके द्रव्य नये-ताजे-सरस लेने चाहिये। यदि नये न मिलें तो जिनको लाये हुए एक साल न बीता हो ऐसे लेने चाहिये। जिस द्रव्यके स्वाभाविक गन्ध, रस, वर्ण (रंग) आदि न बदले हों ऐसा ताजा या एक सालके अंदर लाया हुआ द्रव्य काममें लेना चाहिये। बायविडंग और पीपल एक साल ऊपरके और दो सालके भीतरके लेने चाहिये। औषधके लिये गुड़, धान्य, घी और शहद-मधु एक साल ऊपरके और दो सालके अंदरके लेने चाहिये (आहारके लिये गुड़, धान्य, घी और शहद नये ही लेने चाहिये) ॥ १०–१६ ॥

भूमिविशेषेणौषधग्रहणनियमः—

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्याददीत, अग्न्याकाशगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि; एवं बलवत्तराणि भवन्ति (सु. सू. भूमिप्रविभागीयाध्यायः) ॥ १७ ॥

पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाली भूमिसे विरेचन (अधोभागहर) द्रव्य लेने चाहिये; अग्नि, वायु और आकाशके गुणोंकी अधिकतावाली भूमिसे वमन (ऊर्ध्वभागहर) द्रव्य लेने चाहिये; पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके गुणोंकी अधिकतावाली भूमिसे उभयतोभागहर द्रव्य लेने चाहिये; और आकाशके गुणोंकी अधिकतावाली भूमिसे संशमन द्रव्य लेने चाहिये। इस प्रकार लिये हुए औषध अधिकगुणवाले होते हैं ॥ १७ ॥

द्रव्यसंरक्षणविधिः—

गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्भाजनस्थान्यागारेषु प्रागुदग्द्वारेषु निवात-प्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहार-बलिकर्मवत्सु, अग्नि-सलिलोपस्वेद-धूम-रजो-मूषिक-चतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत् ॥ १८ ॥ (च. क. अ. १)।

प्लोत-मृद्भाण्ड-फलक-शङ्कुविन्यस्तभेषजम् ।
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते ॥ १९ ॥
(सु. सू. भू. प्र. अ.)।

धूम-वर्षानिल-क्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते ।
ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौषधिसंग्रहम् ॥ २० ॥
(सु. सू. अ. ३८)।

औषधद्रव्य लानेके बाद उनको छायामें या मंदी धूपमें सुखाकर भेषजागारमें रखना चाहिये । भेषजागार पवित्र—स्वच्छ स्थलमें तथा पूर्व अथवा उत्तरकी ओर द्वारवाला होना चाहिये, जहाँ औषध द्रव्य रखे जायँ वह स्थान निवात हो परन्तु अन्य स्थानमें वायुका अच्छा संचार हो तथा जहाँ अग्नि, जल, भाप, धुआँ, धूल, चूहा और चौपाये न आ सके ऐसा तथा सूखा होना चाहिये । ऐसे स्थानमें औषधद्रव्योंको उनके अनुरूप (योग्य) अच्छे पाटके थैले, मिट्टीके बरतन आदि पात्रमें बंद करके लकड़ीके तख्ते, खूँटे या छीकेपर रखना चाहिये ॥ १८—२० ॥

फलादीनि कीदृशानि ग्राह्याणि, त्याज्यानि च—

फलेषु परिपक्वं यद्गुणवत्तदुदाहृतम् ।
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम् ॥ २१ ॥
व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकातीतमकालजम् ।
वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥ २२ ॥
कर्कशं परिजीर्णं च कृमिजुष्टमदेशजम् ।
वर्जयेत् पत्रशाकं तद्यदकालविरोहि च ॥ २३ ॥
बालं ह्यनार्तवं जीर्णं व्याधितं कृमिभक्षितम् ।
कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ्न रोहति ॥ २४ ॥
फलं पर्यागतं शाकमशुष्कं तरुणं नवम् ।
(सु. सू. अ. ४६)।

हिमानलोष्ण-दुर्वात-व्याललालादिदूषितम् ॥ २५ ॥
जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ।
अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽति च ॥ २६ ॥

धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम् ।
असञ्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात् ॥ २७ ॥
प्रायेण फलमप्येवं तथाऽऽमं बिल्ववर्जितम् ।
(अ. सं. सू. अ. ७)।

बेलके फलको छोड़कर अन्य सब फल ठीक पके हुए लेने चाहिये । बेलका फल कच्चा ही लेना चाहिये, क्योंकि वह कच्चा विशेष गुणकारक होता है । जिस फलमें कोई रोग हुआ हो, जिसमें कीड़े पड़ गये हों, जो ज्यादा पक गया हो, जो अकाल(बेमौसिम)में हुआ हो और जो ठीक न पका हो वह फल नहीं लेना चाहिये । जो शाक कच्चा, ज्यादा पका हुआ, कीड़ा लगा हुआ, खराब जमीनमें उगा हुआ और बेमौसिममें उगा हुआ हो, जिसमें रस न उत्पन्न हुआ हो और जो सूख गया हो उसे न लेना चाहिये । जो धान्य हिम (पाला), अग्नि, अति गरमी, खराब हवा या सर्प आदि जहरीले प्राणियोंकी लालासे दूषित हुआ हो, जिसमें कीड़े पड़ गये हों, जो जलमें डूबा हो, खराब जमीनमें उगा हो, बेमौसिममें हुआ हो, अन्य धान्यके साथ उत्पन्न हुआ हो और अति पुराना होनेसे हीनवीर्य हो गया हो उसे न लेना चाहिये । जो कंद अति कच्चा, विनाऋतुके उत्पन्न हुआ, अति पुराना, रोग और कीड़ा लगा हुआ हो उसे न लेना चाहिये । जो शाक बिना स्नेह(घी–तैल)में छौंके ही पकाया हो, कोमल न हो और जिसमें संपूर्ण रस न उत्पन्न हुआ हो ऐसा शाक न खाना चाहिये । मूलीको छोड़कर अन्य सूखा शाक न खाना चाहिये ॥ २१–२७ ॥—

द्रव्यसंग्रहणके विषयमें आधुनिक मत—

अवस्थाभेदसे और ऋतुओंके भेदसे वनस्पतियोंके प्रधान वीर्य (Active principle), प्रमाण और क्रियामें न्यूनाधिक्य होता है । साधारणतः वृक्षादि संपूर्ण परिपक्व होनेपर औषधरूपमें प्रयोग करनेके लिये उनके विभिन्न अंगोंका संग्रह किया जाता है । फल, मूल, बीज, छाल, पत्र आदि भिन्न भिन्न अंगोंका भिन्न भिन्न समयमें संग्रह किया जाता है ।

मूल—शरद् या वसन्त ऋतुमें पत्र परिपुष्ट होनेके पहले अथवा फल परिपक्व होनेपर मूल लेने चाहिये । **डॉ. हेल्डन** कहते हैं कि—जिस समय पत्र सूखकर झड़ने लगें उस समय मूल लेने चाहिये । जिन मूलोंको लंबे समयतक रखना हो उनको लेनेके बाद तुरंत सुखा लेना चाहिये । बड़े मूल विशेषतः सरल मूल अपने आप जल्दी सूख जाते हैं । कई मूलोंको टुकड़े करके सुखाना पड़ता है । कन्दोंको पहले छिलका निकाल, टुकड़े करके पीछे सुखाना चाहिये ।

पत्र—वनस्पतिमें फूल विकसित होने परंतु पूर्ण खिलनेके पहले पत्र विशेष पुष्ट होते हैं । साधारण नियम ऐसा है कि—फूल अच्छी तरह खिलने और फल परिपक्व होनेके बीचके समयमें पत्ते लेने चाहिये ।

पुष्प—कोई फूल थोड़े खिलने पर, कोई पूर्ण खिलने पर और कोई विकसित होना आरंभ होते ही लिये जाते हैं । यदि तुरंत काममें लाना हो तो सवेरमें या शामको फूल लेने चाहिये । परंतु यदि सुखानेके लिये फूल लेने हों तो ओस या वर्षाके जलसे गीले होते ही लेने चाहिये । सुगन्धके लिये लेने हों तो अधिक धूप निकलनेके पहले ही लेने चाहिये । फूलोंको सुखाकर रखना हो तो तुरंत सावधानीसे छायामें सुखा, बरतनमें डाल, बरतनको ठीक बंद करके रखना चाहिये ।

फल—संपूर्ण पकने या करीब करीब पकनेपर फल लेने चाहिये । यदि तुरंत काममें लेना हो तो संपूर्ण परिपक्व फल लेना चाहिये ।

बीज—फल संपूर्ण पकनेपर ही बीज लेने चाहिये ।

लकड़ी (सार)—अन्य ऋतुकी अपेक्षा शीतकालमें वृक्षोंका काष्ठ घनतर (मजबूत-कसदार) होता है और उसमें अधिक वीर्य पाया जाता है । जीवितावस्थामें वृक्षकी छाल निकाल देनेसे उसकी लकड़ी अधिक घनी होती है ।

छाल—साधारणतः वसन्त ऋतुके पहले या पीछे अर्थात् जब सरलतासे उखाड़ी जा सके उस समय लेनी चाहिये ।

वनस्पतियोंको छायामें हवासे सुखाना चाहिये ।

(डॉ. राधागोविन्द करकी मेटिरिया मेडिका(बंगाली)से उद्धृत) ।

१ **पञ्चाङ्ग**—जब समग्र वनस्पतिका (पञ्चाङ्गका) व्यवहार करना हो तब वनस्पतिमें संपूर्ण फूल लगनेपर और बीजयुक्त होनेसे पहले वनस्पति लेना चाहिये ।

२ **पत्र**—अच्छे विकसित (पुष्ट) होते ही और फूल तथा फल लगनेके पहले ही पत्ते लेने चाहिये । द्विवर्षजीवी (दो साल रहनेवाले) पौधोंके पत्र उस वनस्पतिको दूसरे वर्षमें फूल लगनेके पहले ही लेने चाहिये ।

३ **फूल**—वनस्पतिमें कुछ पुष्प अविकसित हों और कुछ विकसित होने लगें हों उस समय फूल लेने चाहिये ।

४ **शाखा**—वसन्त ऋतुमें जब वनस्पति खूब सतेज (जोरदार) हो तब शाखाएँ लेनी चाहिये ।

५ **सार(लकड़ी)**—शीतकालके अनन्तर पत्तियाँ झड़ जानेपर न बहुत पुराने और न बहुत नये वृक्षोंकी लकड़ी (सार) लेनी चाहिये । लेनेके बाद जंग न लगे हुए औजारसे उसके छोटे छोटे टुकड़े या बुरादा कर लेना चाहिये ।

६ **छाल**—रञ्जकगुणरहित वृक्षों और उनके मूलकी छाल शरद् ऋतुमें और रञ्जकगुणवाले वृक्षों और उनके मूलकी छाल पत्ते अच्छे पुष्ट होनेके समयमें लेनी चाहिये ।

७ मूल—एकवर्षजीवी वनस्पतिके मूल उनके बीज परिपक्व होनेके पूर्व ही, द्विवर्ष-जीवी वनस्पतिके मूल दूसरे वर्षकी वसन्त ऋतुमें और बहुवर्षजीवी वनस्पतिके मूल शरद् ऋतुमें लेने चाहिये ।

८ यदि वनस्पति दीर्घकाल रखना हो तो उसको ढीला बाँध, छायामें लटकाकर सावधानीसे सुखाना चाहिये । उसमें वर्षाका जल या अन्य कोई पदार्थ (कीटादि) सुखाते समय न लगने चाहिये । सुखानेके बाद टीनके डिब्बोंमें इस प्रकार बंद करके रखना चाहिये कि उनमें वायुका प्रवेश न हो ।

वनस्पति स्वाभाविक रीतिसे उत्पन्न हुई लेनी चाहिये । जो वनस्पति जिस स्थलमें अच्छी होती हो उसका वहींसे संग्रह करना चाहिये । जिस दिन अच्छी धूप हो उस दिन वनस्पति लेनी चाहिये । वर्षाके समय या प्रभातमें ओस गिरनेके समय वनस्पति नहीं लेनी चाहिये ।

(एम्. भट्टाचार्य एन्ड कंपनी कलकत्ता द्वारा प्रकाशित **होमिओपॅथिक फार्माकोपियासे** उद्धृत) ।

वक्तव्य—वनस्पतिके संग्रह और संरक्षणके सामान्य नियम प्राचीन और आधुनिक मतसे यहाँ लिखे हैं । किसी विशेष वनस्पतिके लिये इस विषयमें कुछ विशेष लिखने योग्य होगा तो वह उसके वर्णनमें लिखा जायगा ।

औषधद्रव्य रखनेके पात्र—

औषध द्रव्य यदि अधिक (१–२ मन) प्रमाणमें हों तो उनको पाटके डबल (दोहरे) बोरों(थैलों)में लकड़ीके तख्तोंपर अच्छे स्थानमें रखनेमें हानि नहीं है । लोहे या लकड़ीकी अलमारियाँ, लकड़ीके पीपे, गेल्वेनाईज्ड डिब्बे, जंग न लगे हुए टीनके डिब्बे, काचकी बरनियाँ और पेचदार ढक्कनकी चीनी मिट्टीकी बरनियाँ थोड़े औषध रखनेके लिये अच्छे हैं ।

द्रव्याणां कल्पानां च कालवशेन गुणहानिवृद्धिविचारः—

गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम् ॥ २८ ॥
मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् ।
हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरात् परम् ॥ २९ ॥
हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकात्तथा ।
पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ॥ ३० ॥

(शा. प्र. खं. अ. १)

अच्छे पात्रमें सुरक्षित रखी हुई वनस्पति यदि ज्योंकी त्यों रखी रहे तो एक वर्षके बाद गुणहीन हो जाती है । दो मासके बाद चूर्ण हीनवीर्य हो जाते हैं । गोलियाँ और

अवलेह एक वर्षके बाद हीनवीर्य हो जाते हैं। औषधसिद्ध घृत और तैल एक वर्ष और चार मासके बाद हीनवीर्य हो जाते हैं । आसव-अरिष्ट, धातुओंकी भस्में तथा रसके योग जितने पुराने होते हैं उतने ही गुणसंपन्न होते हैं॥ २८-३० ॥

वक्तव्य—वनस्पतियाँ एवं वनस्पतियोंके कल्पोंके ऊपर लिखे हुए समयमें हीनवीर्य होने या न होने और बिगड़ने या न बिगड़नेका आधार देशकी हवा, ऋतु, रखनेके पात्र और बंद करके रखनेकी क्रिया (Packing) पर है। रखनेके स्थानकी हवा शीत और रूक्ष (खुश्क) होगी, कल्प शीतकालमें बनाया होगा, औषध रखनेका पात्र अच्छा होगा और पात्रमें वायुका प्रवेश न हो इस प्रकार उसको बंद किया होगा तो वनस्पति या वनस्पतिके कल्प चिरकाल तक अच्छे रह सकेंगे। इसके विपरीत यदि उस स्थानकी हवामें नमी (आर्द्रता) अधिक होगी, कल्प वर्षाऋतुमें बनाया होगा, पात्र अच्छा न होगा और पात्रमें हवा न जा सके इस प्रकार उसको बंद न किया होगा तो वनस्पति या उनके कल्प शीघ्र हीनवीर्य या नष्ट हो जायँगे। अतः वैद्योंको वनस्पतिद्रव्य अच्छे सूखे लाने, वे गीले हों तो उनको अच्छी तरह सुखा लेने और अच्छे पात्रमें अच्छी तरह बंद करके रखनेमें विशेष सावधानी और यत्नसे काम लेना चाहिये। वनस्पतिके कल्प आवश्यकतानुसार बनाने चाहिये। आवश्यकतासे अधिक प्रमाणमें बनाकर नहीं रखने चाहिये। कल्प जहाँतक बने शीतकालमें ही बनाने चाहिये। बिना विशेष आवश्यकताके वर्षा ऋतुमें चूर्ण, अवलेह, गोली आदि नहीं बनाने चाहिये। वनस्पति और उनके चूर्ण आदि कल्पोंका गंध, वर्ण (रंग) और रस (स्वाद) कम या विकृत हो गया हो तो उसे फेंक देना चाहिये। भस्में और रसयोग अधिक प्रमाणमें बनाकर रखने चाहिये। क्योंकि वे जितने पुराने होंगे उतने ही अधिक गुणकारक होंगे। जहाँतक बने भस्मों एवं रसकल्पोंको एक सालके बाद ही काममें लेने चाहिये।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे भेषजसंग्रहण-संरक्षणविज्ञानीयाध्यायः षष्ठः ॥ ६ ॥

भेषजप्रयोगविज्ञानीयाध्यायः सप्तमः ।

अथातो भेषजप्रयोगविधिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

रोगभेदसे, अधिकरण(आश्रय-रोगी)भेदसे और प्रयोजनभेदसे शरीरके मुख-नासिका-कर्ण नेत्र-गुद-मूत्रमार्ग-योनि-त्वचा आदि स्थानों-अवयवों-पर खिलाना, लगाना, बस्ति देना, मर्दन करना आदि विविध प्रक्रियाओं द्वारा विभिन्न कालमें औषधोंका प्रयोग किया जाता है। आयुर्वेदमें औषधप्रयोगविधियोंका विस्तारसे वर्णन किया गया

है । इस विषयपर विद्यार्थियोंके पढ़नेके लिये एक स्वतन्त्र पाठ्यग्रन्थ बनानेकी आवश्यकता है । इस अध्यायमें औषधप्रयोगविधियोंका संक्षेपमें वर्णन किया जायगा, जिससे पाठकोंको द्रव्योंके गुण-कर्म लिखते समय इस विषयमें प्रयुक्त संज्ञाओं(पारिभाषिक शब्दों)के समझनेमें सरलता हो ।

मुखके द्वारा औषधप्रयोगविधि ।

मुखके द्वारा औषधका प्रयोग दो उद्देश्योंसे किया जाता है । १–स्थानिक-क्रिया-संपादनार्थ ओठसे गलेतकके रोगोंके लिये गण्डूष, प्रतिसारण आदि प्रक्रियाओं द्वारा **औषधका स्थानिक प्रयोग** करना (इसमें प्रायः औषधका भक्षण–गलेसे नीचे उतारना नहीं किया जाता) । २–सार्वदेहिक-क्रियासंपादनार्थ औषध खानेको (गलेसे नीचे उतारनेको) देना—**औषधभक्षण** । इन दोनों प्रक्रियाओंमें स्थानिक प्रयोगविधिका वर्णन पीछे और भक्षणविधिका वर्णन पहले किया जायगा, क्योंकि औषधोंका अधिकांश प्रयोग खिला कर ही किया जाता है ।

औषधभक्षणविधि ।

खाये हुए कुछ औषध अवस्थापाकके समयमें महास्रोतस्(Alimentary Canal)के अवयवोंपर स्थानिक क्रिया करके, कुछ औषध जठराग्निकी क्रिया द्वारा परिपक्व होनेके पश्चात् रस-रक्तमें मिलकर शरीरमें संचार करते हुए सारे शरीर या शरीरके विभिन्न अवयवोंपर तथा कुछ औषध मलद्वारों और त्वचासे निकलते हुए उन स्थानोंपर अपने गुण-कर्म दिखलाते हैं ।

कषाय-आसव-अर्क आदि द्रवरूप कल्प शरीरमें शीघ्र शोषित होकर (मिल कर) शरीरपर अपनी क्रिया शीघ्र करते हैं । इसके विपरीत चूर्ण-वटिका-भस्म आदि घनरूप कल्प शरीरमें विलम्बसे शोषित होनेके कारण द्रवकल्पोंकी अपेक्षया अपना गुण-कर्म विलम्बसे दिखलाते हैं । अतः प्रयोजनानुसार द्रव या घन कल्पका प्रयोग करना चाहिये ।

कल्क-चूर्ण-रसक्रिया-अवलेह-गोली-भस्म आदि घनकल्प सरलतासे लिये जा सकें (गलेके नीचे उतारे जा सकें) इस उद्देश्यसे तथा द्रवमिश्रित होनेसे शीघ्र शोषित होकर अविलम्ब अपना कार्य करें इसलिये उनको जल, दूध, छाछ, स्वरस, क्वाथ, अर्क आदि द्रव पदार्थमें मिलाकर दिया जाता है या उनको मुँहमें रखकर ऊपरसे द्रव पदार्थ पिलाया जाता है । जो द्रव पदार्थ कल्पके साथ मिलाया जाता है या कल्पके ऊपर पिलाया जाता है उसको **अनुपान** कहते हैं (**अनु सह पश्चाद्वा पीयते इत्यनुपानम्**) । औषधद्रव्य, रोग, रोगीकी प्रकृति आदिका विचार करके अनुपानकी योजना करनी चाहिये । शङ्खद्राव, मद्य तथा कई आसव अपनी तेजीके कारण अकेले

नहीं लिये जा सकते । उनको जल या किसी अर्कमें मिलाकर हलका करके देना चाहिये ।

मूर्च्छा-सन्न्यास-अपतन्त्रक आदि रोगोंमें रोगी जब अचेतनावस्थामें होता है तब उसको औषध पिलाना दुष्कर हो जाता है, इतना ही नहीं किन्तु औषध श्वास-नलिकामें चले जानेकी भी संभावना रहती है । ऐसी अवस्थामें स्वल्प मात्रामें शीघ्र कार्यकर औषध शहदमें मिलाकर जीभपर और यदि दाँत बन्द हों तो दाँतोपर लगा देनेसे धीरे धीरे पेटमें जाकर या मुखकी श्लेष्मकलासे शोषित होकर अपना कार्य करता है । बालक प्रायः औषध खानेके लिये राजी नहीं रहते, उनके मुँहमें औषध डाल दिया जावे तो उसको मुँहमें ही रख लेते हैं, उतारते नहीं । ऐसी हालतमें उनकी नाक अँगुलियोंसे थोड़ी देर दबानेसे वह श्वास लेनेके लिये जब मुँह खोलता है तब औषध आसानीसे पेटमें चला जाता है ।

गोली प्रायः औषधद्रव्यके स्वादका पता न चले और आसानीसे निगली जा सके इस प्रयोजनसे बनाई जाती है । परन्तु कई लोग गोली निगल नहीं सकते और कभी रोगावस्थामें निगली हुई गोली पेटमें हजम न होकर वैसी ही मलके साथ निकल जाती है । ऐसी दशामें गोलीको पीसकर देना चाहिये । खाँसी, मुखपाक आदिमें गोली न निगलाकर मुँहमें रखकर चुसाई जाती है[1] ।

कई औषध अपने अप्रिय स्वाद, गंध और तीक्ष्णताके कारण लेनेमें अच्छे नहीं लगते । उनको केप्स्यूलमें बन्द करके देना चाहिये ।

औषधसेवनकाल ।

औषधद्रव्य, औषध देनेका उद्देश्य और व्याधि इनका विचार करके विभिन्न कालोंमें औषधका सेवन कराया जाता है । सुश्रुतने औषधसेवन(औषधभक्षण) के १ अभक्त, २ प्राग्भक्त, ३ अधोभक्त, ४ मध्येभक्त, ५ अन्तराभक्त, ६ समक्त, ७ सामुद्र, ८ मुहुर्मुहुर, ९ ग्रास और १० ग्रासान्तर ये दश काल लिखे हैं । इन दश औषध भक्षणकालोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है;—

१ **अभक्त (निरन्न)**—प्रातःकाल सूर्योदयके कुछ समय बाद यदि अन्नरहित (खाली पेट) औषध खाया जावे तो उसको **अभक्त** (औषधभक्षणकाल) कहते हैं । प्रातःकाल अन्नरहित सेवन किया हुआ औषध अधिक गुण करता है और रोगको शीघ्र तथा निश्चित नष्ट करता है । परन्तु इसप्रकार सेवन कराया हुआ औषध बालक, वृद्ध, स्त्री और सुकुमार प्रकृतिवालोंमें ग्लानि और बलका क्षय करता है ।

---

१ खाँसीमें एलादि वटी तथा लवंगादि वटी और मुखपाकमें खदिरादि वटी चुसाई जाती है । २ केप्स्यूल विलायती दवा बेचनेवालोंके यहाँ मिलते हैं ।

अतः इन लोगोंको कुछ लघु अन्न देकर पीछे औषध सेवन कराना चाहिये="तत्राभक्तं तु यत् केवलमेवौषधमुपयुज्यते । वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं हन्यात्तथाऽऽमयमसंशयमाशु चैव । तद्बाल-वृद्ध-वनिता-मृदवस्तु पीत्वा ग्लानिं परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥" (सु. उ. अ. ६४)। शार्ङ्गधर लिखते हैं कि—पित्त और कफकी वृद्धिमें, विरेचन और वमन करानेके लिये तथा लेखनके लिये प्रायः प्रातःकाल विना कुछ खाये औषधसेवन करना चाहिये । प्रायः सब प्रकारके औषध, विशेष करके कषाय, प्रातःकाल देने चाहिये="प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः । लेखनार्थे च भैषज्यं प्रभातेऽनन्नमाहरेत् ॥ भैषज्यमभ्यवहरेत् प्रभाते प्रायशो बुधः । कषायांश्च विशेषेण" (शा. प्र. खं. अ. २)। जो औषध अगले दिन खाये हुए आहारके पचने पर लिया जावे और औषध हजम होनेतक अन्न न खाया जावे उसको अनन्न या अभक्त कहते हैं="यत्राहारे जीर्णे भेषजं, भेषजे जीर्णे चाहारः, तत् अनन्नम्-अभक्तं नाम" (हे.)।

२ प्राग्भक्त—औषध खिलाकर तुरंत ऊपरसे अन्न दिया जाय तो उसको प्राग्भक्त (औषधभक्षणकाल) कहते हैं । अन्नके पहले खाया हुआ औषध शीघ्र हजम होता है, बलहानि नहीं करता, अन्नके साथ मिल जानेपर वमन होकर निकल नहीं जाता । वृद्ध, बालक, डरपोक, कृश और स्त्रियोंको अन्न खानेके पहले औषध देना चाहिये="प्राग्भक्तं नाम यत् प्राग्भक्तस्योपयुज्यते (सु.); "प्राग्भक्तं नाम यदनन्तरभक्तम्" (वृ. वा.); "यस्मिन्नौषधे भुक्ते पश्चात्तत्कालमेव भक्तं भुज्यते, तत् प्राग्भक्तम्" (इन्दु)। "शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्यादन्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति । प्राग्भक्तसेवितमथौषधमेतदेव दद्याच्च वृद्ध-शिशु-भीरु-कृशाङ्गनाभ्यः ॥" (सु. उ. अ. ६४) वृद्धवाग्भट कहते हैं कि—अपान वायुके विकारोंमें, नाभिके नीचेके अवयवोंको बल देनेके लिये तथा उनके विकारोंको शान्त करनेके लिये और शरीरको पतला करनेके लिये प्राग्भक्त औषध देना चाहिये="तदपानानिलविकृतावधःकायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु च व्याधिषु प्रशमनाय कृशीकरणार्थं च योज्यम् ।" (अ. सं. सू. अ. २३)।

३ अधोभक्त—अन्न खाकर तत्काल जो औषध लिया जावे उसको अधोभक्त (भोजन देनेके बाद औषध देनेका काल) कहते हैं । अन्न खाकर ऊपरसे लिया हुआ औषध नाभिके ऊपरके अवयवोंमें होनेवाले रोगोंको दूर करता है और उन अवयवोंको बल देता है="अधोभक्तं नाम यद्भुक्त्वा पीयते । पीतं यदन्नमुपयुज्य तदूर्ध्वकाये हन्याद्गदान् बहुविधांश्च बलं दधाति ॥" (सु. उ. अ. ६४)। वृद्धवाग्भट कहते हैं कि—व्यान वायुके विकारोंमें प्रातःकालके भोजनके

बाद और उदानवायुके विकारोंमें सायंकालके भोजनके बाद औषध देना चाहिये। अधोभक्त खाया हुआ औषध शरीरको स्थूल करता है="**तत्तु व्यानविकृतौ प्रातराशान्तम्, उदानविकृतौ पुनः सायमाशान्तं × × × स्थूलीकरणार्थं च ॥**" (अ. सं. सू. अ. २३)।

४ **मध्येभक्त**—यदि औषध आधा भोजन करके लिया जावे और ऊपरसे शेष आधा भोजन किया जावे उसको **मध्येभक्त (औषधकाल)** कहते हैं। भोजनके मध्यमें खाया हुआ औषध मध्यदेह(कोष्ठ)में होनेवाले रोगोंको दूर करता है="**मध्येभक्तं नाम यन्मध्ये भक्तस्य पीयते। मध्ये तु पीतमपहन्त्यविसारिभावाद्ये मध्यदेहमभिभूय भवन्ति रोगाः ॥**" (सु. उ. अ. ६४)। **वृद्धवाग्भट** लिखते हैं कि—समानवायुके विकार, कोष्ठके रोग और पित्तके रोगमें मध्येभक्त (भोजनके मध्यमें) औषध देना चाहिये="**तत् समानानिलविकृतौ, कोष्ठगतेषु च व्याधिषु, पैत्तिकेषु च ॥**" (अ. सं. सू. अ. २३)।

५ **अन्तराभक्त**—यदि औषध सवेर और शामके भोजनके मध्यमें लिया जावे अर्थात् सवेरका भोजन जीर्ण होनेपर औषध खाया जावे और वह औषध जीर्ण होनेपर शामको अन्न खाया जावे उसको **अन्तराभक्त (औषधकाल)** कहते हैं। अन्तराभक्त (दो भोजनोंके मध्यमें) दिया हुआ औषध हृदय और मनको बल देनेवाला, दीपन और पथ्य होता है **(सु.)** । अन्तराभक्त औषध दीप्ताग्नि पुरुषोंको और व्यानवायुके विकारोंमें दिया जाता है="**अन्तराभक्तं नाम यदन्तरा पीयते पूर्वापरयोर्भक्तयोः।**" (सु. उ. अ. ६४); "**अन्तराभक्तं यत् पूर्वाह्णे भुक्ते जीर्णे मध्याह्ने उपयुज्यते, जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम्। तद्दीप्ताग्नेर्व्यानजेष्वामयेषु।**" (अ. सं. सू. अ. २३)।

६ **सभक्त**—औषध यदि अन्नके साथ पकाकर दिया जावे या पकाये हुए अन्नमें मिलाकर दिया जावे तो उसको **सभक्त (औषधकाल)** कहते हैं। सभक्त औषध दुर्बल-स्त्री-बालक-सुकुमार-वृद्ध और औषध लेना पसंद न करनेवालेको, अरुचिमें और सर्वाङ्गगत रोगोंमें देना चाहिये="**सभक्तं नाम औषधेषु साध्यते यद्भक्तम्। पथ्यं सभक्तमबलाबलयोर्हि नित्यं तद्द्वेषिणामपि तथा शिशुवृद्धयोश्च।**" (सु. उ. अ. ६४)। "**सभक्तं यदन्नेन समं साधितं पश्चाद्वा समालोडितम्। तद्बालेषु सुकुमारेष्वौषधद्वेषिष्वरुचौ सर्वाङ्गगेषु च रोगेषु।**" (अ. सं. सू. अ. २३)।

७ **सामुद्ग**[१]—जो पाचन अवलेह-चूर्ण आदि औषध लघु और अल्प अन्नके आदि

---

१ 'सामुद्ग' शब्दका मूल अर्थ संपुट है। औषधके आदि और अन्तमें लिये हुए अन्नसे औषध जानो संपुटित हो जाता है, अतः उसे तथा उसके ग्रहणकालको सामुद्ग नाम दिया गया है।

और अन्तमें दिया जावे उसको **सामुद्ग** कहते हैं। सामुद्ग औषध हिक्का, कम्प और आक्षेपमें तथा दोष अधोमार्ग और ऊर्ध्वमार्ग दोनोंमें फैले हों तब देना चाहिये= **"सामुद्गं नाम यद्भक्तस्यादावन्ते च पीयते । दोषे द्विधा प्रविसृते तु समुद्गसंज्ञमाद्यन्तयोर्यदशनस्य निषेव्यते तु ।"** (सु. उ. अ. ६४)। **"तत्तु लघ्वल्पान्नयुक्तं पाचनावलेह-चूर्णादि हिध्मायां कम्पाक्षेपयोरूर्ध्वाधः-संश्रये च दोषे ।"** (अ. सं.सू. अ. २३)।

८ **मुहुर्मुहुः**—अन्नके साथ अथवा अन्नरहित (खाकर या खाली पेट) वारंवार औषध दिया जावे तो उसको **मुहुर्मुहुः** (**औषधकाल**) कहते हैं। श्वास, बढ़ी हुई खाँसी, हिचकी, वमन, तृषा और विषविकारोंमें वारंवार औषध देना चाहिये=**"मुहुर्मुहुर्नाम सभक्तमभक्तं वा यदौषधं मुहुर्मुहुरुपयुज्यते ।"** (सु. उ. अ. ६४); **"तच्च श्वास-कास-हिध्मा-तृट्-छर्दिषु विषनिमित्तेषु च विकारेषु ।"** (अ. सं सू. अ. २३)।

९ **सग्रास**—जो औषध प्रत्येक ग्रासमें (या कुछ ग्रासोंमें) मिलाकर दिया जावे उसको **सग्रास** या **ग्रास** कहते हैं। मन्दाग्निवालोंको जठराग्निको प्रदीप्त करनेवाले चूर्ण तथा वाजीकर औषध सग्रास (ग्रासमें मिलाकर) देना चाहिये=**"ग्रासं तु यत् पिण्डव्यामिश्रम् । ग्रासेषु चूर्णमबलाग्निषु दीपनीयं वाजीकराण्यपि तु योजयितुं यतेत ।"** (सु. उ. अ. ६४)।

१० **ग्रासान्तर**—औषध यदि दो ग्रासों (निवालों) के बीचमें दिया जावे उसको **ग्रासान्तर** (**औषधकाल**) कहते हैं। वमन करानेवाले धूम और श्वास-कास आदिमें प्रसिद्ध गुणवाले अवलेह दो ग्रासोंके बीचमें देने चाहिये=**"ग्रासान्तरं यदुभयोर्ग्रासयोर्मध्ये प्रयुज्यते । ग्रासान्तरेषु वितरेद्वमनीयधूमाञ्छ्वासादिषु प्रथितदृष्टगुणांश्च लेहान् ॥"** (सु. उ. अ. ६४)। **वृद्धवाग्भट** कहते हैं कि—सग्रास और ग्रासान्तर औषध प्राणवायुके विकारोंमें देने चाहिये=**"द्वयमप्येतत् प्राणानिलविकृतौ ।"** (अ. सं. सू. अ. २३)।

वक्तव्य—**वृद्धवाग्भट**ने सुश्रुतोक्त दश औषधकालोंके अतिरिक्त रात्रिको सोते समय औषध लेनेका एक काल (**नैश**) अधिक बताया है और ऊर्ध्वजत्रुके (गलेके ऊपरके) विकारोंमें रातको सोते समय औषध लेनेका विधान किया है=**"तस्य त्वेकादशधाऽवचारणं, तद्यथा—अभक्तं × × × निशि च ।" "जत्रूर्ध्वामयेषु निशायाम्"** (अ. सं. सू. अ. २३)। **शार्ङ्गधर**ने औषधसेवनके, सबेरमें सूर्योदयके कुछ देर बाद, दिनके भोजनके समय, रात्रिके भोजनके समय, वारंवार और रातको सोते समय ये पाँच काल लिखे हैं=**"ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ।**

किञ्चित्सूर्योदये जाते, तथा दिवसभोजने ॥ सायन्तने भोजने च, मुहुश्चापि, तथा निशि ।" (शा. प्र. खं. अ. २)।

औषधमात्राविचार ।

"मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः ।
व्याधिं द्रव्यं च कोष्ठं च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत् ॥"

"दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषजप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणानुरूपो भवति ।" (च. वि. अ. ८)।

"नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम् ।
दोषवच्चातिमात्रं स्यात् सस्यस्यात्युदकं यथा ॥
संप्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च ।
नैवाति बहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत् ॥"
(च. चि. अ. ३०)।

"द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तमस्मिन् मध्येषु तत् कोष्ठ-वयो-बलेषु ।
तन्मूलमालम्ब्य भवेद्विकल्पस्तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभावः ॥"
(च. क. अ. १२)।

सब मनुष्योंके लिये औषधद्रव्यकी एक निश्चित मात्रा नहीं हो सकती । अतः वातादि दोष, जठराग्निका बल, रोगीका देह (स्थूल-कृश-आदि शरीरोपचय), रोगीकी शक्ति, वय (उम्र), व्याधि (रोगका बल), द्रव्य और रोगीका मृदु-मध्य-तीक्ष्ण कोष्ठ (तथा देश-काल, सत्त्व और सात्म्य)–इनको देखकर मात्रा(औषधसेवनप्रमाण)का निर्णय करना चाहिये । जैसे बड़ी आगको थोड़ा जल नहीं बुझा सकता, वैसे उपयुक्त प्रमाणसे अल्प मात्रामें दिया हुआ औषध रोगको नष्ट नहीं कर सकता । एवं जल घासकी वृद्धिके लिये हितकर होनेपर भी प्रमाणसे अधिक हो जाय तो घासको हानि ही पहुँचाता है, उसी प्रकार औषध प्रमाणसे अधिक हो तो व्याधिको नष्ट करनेवाला होनेपर भी शरीरको हानि ही करता है । इस लिये रोग और औषधका बल देख, न अधिक और न अल्प, किन्तु योग्य प्रमाणमें औषध देना चाहिये । इस ग्रन्थमें जो द्रव्योंका (तथा कल्पोंका) प्रमाण कहा गया है वह सामान्यतः मध्यम कोष्ठ-वय और बलवालोंके लिये है । उस प्रमाणको मध्यम प्रमाण मान कर उसमें दोषादिके अनुसार अधिकता (वृद्धि) या न्यूनता (ह्रास) करनी चाहिये ।

गण्डूष-प्रतिसारण-विधि ।

ऊपर सार्वदेहिक क्रियाके लिये मुखके द्वारा औषधप्रयोग(औषधभक्षण)की विधिका विस्तारसे वर्णन किया गया है । अब ओठसे लेकर गलेतक स्थानिक क्रियाके

लिये जो औषधका प्रयोग किया जाता है उसका वर्णन करते हैं। मुँहमें स्थानिक क्रियाके लिये जो औषधका प्रयोग होता है उसके आयुर्वेदमें मुख्य दो प्रकार बताये गये हैं—१ **गण्डूष** और **कवलग्रह** तथा २ **प्रतिसारण**। इन दोनों प्रकारोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

१ गण्डूष और कवलग्रह—गण्डूष और कवल या कवलग्रह दोनोंको भाषामें सामान्यतः 'कुल्ला करना' कहते हैं। **सुश्रुत** इन दोनोंका भेद बताते हुए लिखते हैं कि—"**सुखं संचार्यते या तु मात्रा स कवलग्रहः। असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः॥**" (सु. चि. अ. ४०)= इतने प्रमाणमें द्रव-द्रव्य मुँहमें भर लिया जावे कि जिसको आसानीसे मुँहमें फिरा-हिला सके उसको **कवलग्रह** कहते हैं और द्रव द्रव्यसे इतना मुँह भर लिया जावे कि उसको मुँहमें सरलतासे फिराया-हिलाया न जा सके तो उसको **गण्डूष** कहते हैं। अर्थात् द्रव द्रव्यसे पूरा मुँह भर उसको मुँहमें कुछ समय रखकर निकाल दिया जावे उसको **गण्डूष** और द्रव द्रव्य थोड़ा मुँहमें ले, उसको मुँहमें फिराकर निकाल दिया जावे **कवलग्रह** कहते हैं। **वाग्भट** भी ऐसा ही लिखते हैं—"**असंचार्यो मुखे पूर्णे गण्डूषः, कवलोऽन्यथा॥**" (अ. हृ. सू. अ. २२); इसकी व्याख्यामें **अरुणदत्त** लिखते हैं कि—"मुखे पूर्णे सति यः संचारयितुमशक्यः स्यात् स 'गण्डूष' उच्यते। अन्यथा मुखे अपूर्णे सति यः संचारयितुं शक्यते स 'कवल' उच्यते"। **वृद्धवाग्भट** लिखते हैं कि—"**वरमध्यावरां क्रमाद्वक्त्रार्ध-त्रिभाग-चतुर्भागपूर्णीं द्रवमात्रां कल्कं वा कोलमात्रं किञ्चिदुन्नतास्योऽनभ्यवहरन् धारयेत् (गण्डूषे), कवले तु पर्यायेण कपालौ कण्ठं च संचारयेत्। अयमेव कवल-गण्डूषयोर्विशेषः।**"=उत्तम मात्रामें आधा मुँह भरे इतना, मध्यम मात्रामें मुँहका तीसरा हिस्सा भरे इतना और कनिष्ठ मात्रामें मुँहका चौथाई भाग भरे इतना द्रव पदार्थ अथवा आधा तोला कल्क मुँहमें ले, सिर कुछ ऊँचा करके मुँहमें न निगलते हुए (गलेसे नीचे न उतारते हुए) धारण करनेको **गण्डूष** और क्रमसे दोनों ओर तथा कण्ठतक फिराने-हिलानेको **कवल** कहते हैं-यही गण्डूष और कवलमें भेद है। **शार्ङ्गधरने** गण्डूषमें द्रवपदार्थ और कवलमें कल्कका उपयोग करनेको लिखा है—"**तत्र द्रवेण गण्डूषः, कल्केन कवलः स्मृतः।**" (शा. म. ख. अ. १०)। **चरकने** कल्कको मुँहमें फिराकर निकाल देनेको **कवलग्रह** और कषायसे कुल्ला करनेको **मुखधावन** नाम दिया है-"**मुखपाके × × ×। कषायतिक्तकाः शीताः क्वाथाश्च मुखधावनाः।**" (च. चि. अ. २६)।

कर्मभेदसे कवल और गण्डूषके **सुश्रुतने**, **स्नेहन**, **प्रसादन**, **शोधन** और **रोपण** ये चार भेद लिखे हैं। **वृद्धवाग्भटने स्नैहिक**, **शमन**, **शोधन** तथा **रोपण** ये चार भेद लिखे हैं और शमनमें **स्तम्भन**, **प्रसादन** और **निर्वापण**

इन तीनोंका अन्तर्भाव किया है-**"चतुर्विधो भवति गण्डूषः—स्नैहिकः, शमनः, शोधनो, रोपणश्च। तेषामाद्यास्त्रयः क्रमेण वात-पित्त-कफघ्नाः, रोपणस्त्वास्यव्रणघ्नः; शमनः, स्तम्भनः, प्रसादनो, निर्वापण इति पर्यायाः।"** (अ. सं. सू. अ. ३१) (स्नेहन, प्रसादन आदि शब्दोंकी व्याख्या इस ग्रन्थके पूर्वार्धमें की गई है)। वातरोगमें स्निग्ध और उष्ण औषधोंसे जो कुल्ले कराये जाते हैं उनको **स्नेहन**; पित्त और रक्तके विकारोंमें प्रसादन-स्तम्भन और निर्वापणके लिये तत्तद्गुणविशिष्ट औषधोंसे जो कुल्ले कराये जाते हैं उनको **शमन**; कफरोगोंमें शोधन (कटु-अम्ल-लवण और उष्ण) औषधोंसे जो कुल्ले कराये जाते हैं उनको **शोधन** और मुँहके व्रणोंको दूर करनेके लिये रोपण द्रव्योंसे जो कुल्ले कराये जाते हैं उनको **रोपण** कहते हैं। प्रयोजनानुसार कुल्ले ठंढे या गुनगुने द्रवसे कराये जाते हैं। कुल्ले करानेके लिये तैल, क्वाथ, हिम, फाण्ट, जलमें मिलाई हुई रसक्रिया, फिटकिरी आदिका द्रव आदि द्रवपदार्थ तथा कल्कका प्रयोग किया जाता है। स्वस्थवृत्तमें अनागत रोगोंके प्रतिषेधके लिये प्रतिदिन प्रातः तिलतैलके गंडूष धारणका विधान है (च. सू. अ. ५)।

२ **प्रतिसारण**—अँगुलीपर, या सलाईकी नोकपर रूई लगा, उसपर औषध लेकर उसको मुँहके अन्दर लगानेकी क्रियाको **प्रतिसारण** कहते हैं। प्रतिसारणके सुश्रुतने **कल्क, रसक्रिया, क्षौद्र** (मधु) और **चूर्ण** ये चार भेद लिखे हैं= **"कल्को, रसक्रिया, क्षौद्रं, चूर्णं चेति चतुर्विधम्। अङ्गुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्॥"** (सु. चि. अ. ४०)। औषधद्रव्योंका कल्क बनाकर उसे मुँहमें लगानेको **कल्कप्रतिसारण**; रसक्रियाको मुँहमें लगानेको **रसक्रियाप्रतिसारण**; केवल शहद या शहदमें मिलाये हुए सुहागा आदिके मुँहमें लगानेको **क्षौद्रप्रतिसारण** और चूर्णको मुँहमें लगानेको **चूर्णप्रतिसारण** कहते हैं। कर्मभेदसे प्रतिसारणके भी **स्नेहन, शमन** (प्रसादन, स्तम्भन, निर्वापण), **शोधन** और **रोपण** ये चार भेद होते हैं। दाँतोंपर जो मंजन लगाये जाते हैं उनका चूर्णप्रतिसारणमें और आजकल डॉक्टरी पद्धतिसे बने हुए जो पेस्ट लगाये जाते हैं उनका कल्कप्रतिसारणमें अन्तर्भाव होता है। मुखरोगमें प्रतिसारणीय क्षार भी लगाया जाता है; उसको **क्षारप्रतिसारण** कहते हैं। इसका रसक्रियाप्रतिसारणमें अन्तर्भाव होता है।

मुखके रोगोंमें तथा कास-श्वास आदि श्वासनलिका और फुप्फुसके रोगोंमें औषधद्रव्योंको जलाकर मुखके द्वारा धूमपानके रूपमें औषधका प्रयोग कराया जाता है। उसका वर्णन धूमपानके प्रकरणमें किया जायगा।

गण्डूष और प्रतिसारणका विषय यहाँ संक्षेपमें लिखा है। इसका विस्तृत वर्णन

सु. चि. अ. ४०, च. चि. अ. २६, अ. सं. सू. अ. ३९, अ. हृ. सू. अ. २२ और शा. उ. खं. अ. १० में किया हुआ है।

धूमपान-धूपन-विधि ।

औषधद्रव्योंका धुएँ द्वारा शरीरपर प्रयोग किया जाता है । उसके मुख्य दो प्रकार हैं-१ **धूमपान** और २ **धूपन** ।

औषधद्रव्योंका चूर्ण या वर्ति बना, उसको जलाकर धूमनेत्रद्वारा मुख या नासिकासे जो धुआँ खींचा जाता है उसको **धूमपान** कहते हैं । औषधद्रव्योंके चूर्ण या वर्तिको सकोरे या धूपदानमें जलते कोयलों पर डालकर उससे व्रण-योनि-गुद-कान आदि शरीरके अवयव, या समग्र शरीर रोगीके निवासस्थान आदिको जो धुआँ दिया जाता है उसको **धूपन** कहते हैं । अब इन दोनों प्रकारोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है ।

१ **धूमपान**—सुश्रुतने कर्मभेदसे धूमपानके **प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक, कासघ्न** और **वामनीय** ये पाँच भेद लिखे हैं="**धूमः पञ्चविधो भवति–प्रायोगिकः, स्नैहिकः, वैरेचनिकः, कासघ्नः, वामनीयश्च, इति ।**" (सु. चि. अ. ४०) । स्वस्थ पुरुषको जो नित्य धूमपान कराया जाता है उसको **प्रायोगिक**; स्निग्धता लाने और बृंहण करनेके लिये जो धूमपान कराया जाता है उसको **स्नैहिक**; शिरोविरेचनके लिये जो धूमपान कराया जाता है उसको **वैरेचनिक**; कास(खाँसी-श्वास और हिक्का)में जो धूमपान कराया जाता है उसको **कासघ्न** और वमन करानेके लिये जो धूमपान कराया जाता है उसको **वामनीय** धूमपान कहते हैं । **वृद्धवाग्भटने** सुश्रुतोक्त प्रायोगिकके **शमन** और **मध्यम**, स्नैहिकके **बृंहण** और **मृदु** तथा वैरेचनिकके **शोधन** और **तीक्ष्ण** पर्याय नाम दिये हैं । **चरकने** (सू. अ. ५ में) **प्रायोगिक, स्नैहिक** और **वैरेचनिक** ये तीन भेद लिखे हैं ।

धूमपान करनेके लिये जो नली बनाई जाती है उसको **धूमनेत्र** कहते हैं । प्रायोगिक, स्नैहिक और वैरेचनिक धूमपानमें धूमवर्तिको नेत्रमें रख, जलाकर मुख या नासिकासे धूमपान किया जाता है । **धूमवर्ति** बनानेकी विधि इसी खण्डमें पृ. ४७ पर लिखी है । कासघ्न और वामनीय धुआँ, एक शराव(सकोरे)में अच्छे जले हुए कोयलोंपर कासघ्न या वामनीय द्रव्योंका चूर्ण या वर्ति रख, उसपर उतना ही चौड़ा, बीचमें छेद करके उसमें नली लगाया हुआ दूसरा सकोरा रखकर बीचमें लगी हुई नलीसे मुँहके द्वारा खींचा जाता है ।

२–**धूपन**—व्रणमें स्थित कृमियोंको नष्ट करने तथा व्रणकी पीडा और दुर्गन्ध कम करनेके लिये जो धुआँ दिया जाता है उसको **व्रणधूपन** कहते हैं । योनि-गुद-कान आदि शरीरके अवयवोंको, समग्र शरीरको और निवासस्थान आदिमें जो धुआँ दिया

जाता है उसको सामान्यतः **धूपन** या उसके लिये उस स्थानके साथ 'धूपन' शब्द लगाकर **योनिधूपन, गुदधूपन, कर्णधूपन, गृहधूपन** आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है।

वक्तव्य—धूमपान और धूपनके विषयमें प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों-(संज्ञाओं)की यहाँ व्याख्या कर दी है। धूमपानके गुण, धूमपानके सम हीन और अतियोगके लक्षण, किन रोगोंमें धूमपान कराना, किनको धूमपान न कराना, किन समयोंमें धूमपान कराना, कितना समय धूमपान कराना, धूमपान और धूपनके लिये धूमनेत्र कैसे बनवाना, धूमपान करनेकी विधि आदि विषयोंका च. सू. अ. ५, सु. चि. अ. ४०, अ. सं. सू. अ. ३०, अ. हृ. सू. अ. २१ और शा. उ. खं. अ. ९ में विस्तारसे वर्णन किया है। कास-श्वास-हिक्काघ्न धूमपानका उनकी चिकित्सामें; व्रणधूपनका सु. सू. अ. ५ में; गुदधूपनका अर्शोरोगचिकित्सामें; योनिधूपनका योनिरोगचिकित्सामें वर्णन किया गया हुआ है। एवं काश्यपसंहिता क. अ. ४ में अनेक प्रकारके धूपोंका विस्तारसे वर्णन किया है। जिज्ञासुओंको वे स्थल देखने चाहिये।

नस्यविधि।

औषधद्रव्योंका चूर्ण, औषधद्रव्योंसे सिद्ध किया हुआ स्नेह (तैल-घृत-मलहम), स्वरस-दूध आदि द्रवपदार्थ तथा औषध द्रव्योंका धूम जो नासिकाके द्वारा दिया (या लिया) जावे उसको **नस्य, नावन** और **नस्तःकर्म** कहते हैं="**औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासाभ्यां दीयत इति नस्यम्।**" (सु. चि. अ. ४०)। **नासायां प्रणीयमानमौषधं नस्यं, नावनं, नस्तःकर्म, इति च संज्ञां लभते।**" (अ. सं. सू. अ. २९)। "**नस्यं तत् कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम्।**" (शा. उ. खं. अ. ९)॥

"**तद्विविधं-शिरोविरेचनं, स्नेहनं च। तद्विविधमपि पञ्चधा-नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शः, अवपीडः, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च। नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः; शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः, प्रधमनं च।**" (सु. चि. अ. ४०)। "**तत्तु त्रिविधं-विरेचनं, बृंहणं, शमनं च।**" (अ. सं. अ. २९)। "**नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च। प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तःकर्म तु पञ्चधा॥ स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम्। शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः॥ चूर्णस्याध्मापनं तद्धि देहस्रोतोविशोधनम्। विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः॥ प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत्। एवं तद्रेचनं कर्म तर्पणं शमनं तथा**" (च. सि. अ. ९)॥

औषध देनेकी प्रक्रिया(तरीके)के भेदसे नस्यके **नस्य** या **नावन, अवपीड, ध्मापन, धूम** और **प्रतिमर्श** ये पाँच भेद होते हैं । यद्यपि 'नस्य' या 'नावन' शब्द सामान्यतः सब प्रकारके नस्योंके लिये प्रयुक्त होता है, तथापि नाकमें जो स्नेह डाला जाता है उसके लिये विशेषार्थमें भी **नस्य** या **नावन** शब्दका प्रयोग होता है= **"तत्र यः ××× स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको 'नस्य'शब्दः ।"** (सु. चि. अ. ४०) । नाकमें स्नेह देनेकी छोटी मात्रा ८ बिन्दु, मध्यम मात्रा ३२ बिन्दु और बड़ी मात्रा ६४ बिन्दु है=**"तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः प्रदेशिनी-पर्वद्वयनिःसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः ।"** (सु. चि. अ. ४०) । **सुश्रुतने** यह मात्रा स्नेहन कर्मके लिये जो स्नेह दिया जावे उसकी लिखी है । शिरोविरेचनके लिये जो स्नेह दिया जावे उसकी मात्रा बलानुसार ४, ६ या ८ बिन्दु लिखी है=**"चत्वारो बिन्दवः षड्वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम् । शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत् ॥"** (सु. चि. अ. ४०) । **वृद्ध-वाग्भट** और **वाग्भटने** इस नस्यको **मर्श** नाम दिया है और मर्शकी उत्तम मात्रा १० बिन्दु, मध्यम मात्रा ८ बिन्दु और अल्पमात्रा ६ बिन्दु लिखी है= **"मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया । ××× । प्रदेशिन्यङ्गुलि-पर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् । यावत् पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते ॥ मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् । बिन्दुद्वयोनाः क्वाथादेः"** (अ. हृ. सू. अ. २०) । प्रत्येक नासापुटमें दो बूँदे स्नेह अंगुलीसे लगा देनेको **प्रतिमर्श** (नस्य) कहते हैं—**"प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमुच्यते ।"** (अ. हृ. सू. अ. २९) औषधद्रव्योंके कल्कको कपड़ेमें ले, अंगुलियोंसे दबाकर नाकमें स्वरस गेरनेको **अवपीड** (नस्य) कहते हैं । (अवपीड्य दीयते, इत्यवपीडः) । छः अंगुल लंबी और दोनों ओर मुँहवाली धातु आदिकी नलीमें चूर्ण रखकर मुँहकी वायुसे नाकमें फूँकनेको **ध्मापन, आध्मापन, प्रध्मापन** या **प्रधमन** (नस्य) कहते हैं । नाकके द्वारा औषधद्रव्योंका धुआँ खींचनेको **धूम** (नस्य) कहते हैं ।

कर्मभेदसे **चरकने** नस्यके **रेचन** (**शिरोविरेचन**), **तर्पण** (**बृंहण**) और **शमन** ये तीन भेद लिखे हैं । **चरक** लिखते हैं कि—नावन नस्य **स्नेहन** और **शोधन** (शिरोविरेचन) भेदसे दो प्रकारका होता है । अवपीड नस्य **शोधन** और **स्तम्भन** भेदसे दो प्रकारका होता है । आध्मापन नस्य शिरोविरेचन करानेवाला होता है । धूम नस्य **प्रायोगिक, स्नैहिक** और **वैरेचनिक** भेदसे तीन प्रकारका

---

१ 'आदि'शब्दसे दूध आदि द्रव पदार्थ समझने चाहिये । स्वरस क्वाथ-दूध आदि द्रव पदार्थकी उत्तम मात्रा ८ बूँद, मध्यम मात्रा ६ बूँद और कनिष्ठ मात्रा ४ बूँदकी लेनी चाहिये । यहाँ लिखी हुई सब मात्राएँ प्रत्येक नासापुटमें एक वार देनेकी हैं ।

होता है। प्रतिमर्श नस्य स्नेहसे दिया जाता है और वह **तर्पण** और **शमन** दोनों कार्य करता है। इसकी टीकामें **चक्रपाणिदत्त** लिखते हैं कि—नस्यके अन्य (स्तम्भन, संज्ञास्थापन आदि) भेद तन्त्रान्तरमें लिखे हैं उनका भी यथासंभव रेचन, तर्पण और शमन इन तीन भेदोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। शार्ङ्गधरने नस्यके **रेचन** (कर्षण) और **स्नेहन** (बृंहण) ये दो भेद लिखे हैं="**नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा। रेचनं कर्षणं प्रोक्तं, स्नेहनं बृंहणं मतम्॥**" (शा. उ. खं. अ. ८)।

नस्यविधानके विषयमें यहाँ संक्षेपमें पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्यामात्र लिखी है। नस्यकर्मके गुण, किन रोगोंमें किस प्रकारका नस्य देना, नस्य देनेके समय, नस्य देनेकी विधि, नस्यकर्ममें प्रयुक्त होने वाले द्रव्य और योग, नस्यके सम-हीन और अतियोगके लक्षण, पश्चात्कर्म आदि विषय च. सि. अ. ९, सु. चि. अ. ४०, अ. सं. सू. अ. २९, अ. हृ. सू. अ. २० तथा शा. उ. खं. ८ में विस्तारसे वर्णन किये गये हैं।

नस्यमें तैल आदि द्रवद्रव्यको गरम जलके द्वारा गरम करके गुनगुनी अवस्थामें उनका प्रयोग करना चाहिये। तैल आदि द्रव पदार्थको आँखमें बूँद डालनेकी काँचकी पिचकारी (Eye-dropper) में भरकर उससे बूँदें डालनी चाहिये, अथवा उनमें संशोधित शोषक[१] रूई भिगो, दबाकर बूँदें डालनी चाहिये="**उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रणाड्या पिचुनाऽथवा।**" (अ. हृ. सू. अ. २०)।

नासार्शमें प्रतिसारणीय क्षार नाकमें लगाया जाता है, उसको **क्षारप्रतिसारण** कहते हैं। नाकके अन्दरके व्रणोंमें व्रणशोधन और रोपण कषायोंसे नाक अन्दरसे धोया जाता है; इसे **नासिकाधावन** या **नासिकाप्रक्षालन** कहते हैं। नकसीर फूटनेपर फिटकिरी आदि स्तम्भन द्रव्योंके द्रवमें रूई भिगोकर या उनका चूर्ण रूईपर लेकर नाकमें भर देते हैं; इसको **नासापूरण** कहते हैं। युकेलिप्टस्का तैल आदि कपड़ेपर छिड़ककर या कायफलकी छाल आदिकी कपड़ेमें पोटली बनाकर वह सूँघी जाती है; इसको **आघ्राण** कहते हैं।

नेत्रमें औषधप्रयोगकी विधि।

शार्ङ्गधरने नेत्रमें या नेत्रपर औषधप्रयोग करनेकी **सेक, आश्च्योतन, पिण्डी, बिडाल(क), तर्पण, पुटपाक** और **अञ्जन** ये सात विधियाँ लिखी हैं="**सेक आश्च्योतनं पिण्डी बिडालस्तर्पणं तथा। पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत्॥**" (शा. उ. खं. अ. १३)। इन सात विधियोंका क्रमसे वर्णन किया जाता है।

---

१ द्रवशोषक रूई absorbent Cotton नामसे विलायती दवा बेचनेवालोंके यहाँ मिलती है।

१ **सेक**—रोगीको सीधा लेटा, आँखें बन्द कराकर चार अंगुल ऊँचेसे द्रव औषधको पतली धारसे नेत्रके ऊपर गेरनेको **सेक** कहते हैं। सेकके **स्नेहन, रोपण** और **लेखन** ये तीन भेद हैं। वातके रोगोंमें स्नेहन औषधोंसे, रक्त और पित्तके रोगोंमें रोपण औषधोंसे तथा कफके रोगोंमें लेखन औषधोंसे सेक करना चाहिये= **"स चापि स्नेहनो वाते, रक्ते पित्ते च रोपणः। लेखनश्च कफे कार्यः"** (शा. उ. खं. अ. १३)। स्नेहन सेक छः सौ, रोपण सेक चार सौ और लेखन सेक तीन सौ लघु अक्षरोंके उच्चारण (मात्रा[1]) तक करना चाहिये=**"षड्वाक्छतैः स्नेहने तु, चतुर्भिश्चैव रोपणे। वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेको लेखनकर्मणि॥"** (शा. उ. खं. अ. १३)। वात तथा कफके रोगोंमें गुनगुने द्रवसे और रक्त तथा पित्तके रोगोंमें ठंढे द्रवसे सेक करना चाहिये।

वक्तव्य—पाश्चात्य नेत्रचिकित्सामें टङ्कणाम्लद्रव (Boric acid lotion) आदि द्रव पदार्थोंसे आँख धोई जाती है। यह भी एक प्रकारका सेक है। आँख धोनेके लिये सेक करना हो तो आँख खुली रखाकर सेक करना चाहिये। सेकके लिये Undine नामका काचका पात्र विलायती दवा बेचनेवालोंके यहाँ मिलता है, उसको काममें लेना अच्छा है।

२ **आश्च्योतन**—रोगीको सीधा लेटा, उबाल आने तक गर्म करके ठंढे किये हुए जलमें शोषक रूई भिगो, उससे आँखको धो, बाँये हाथके अंगूठे और अंगुलीसे आँख खोल, दाहिने हाथसे आँखमें बूँद गेरनेकी काचकी पिचकारीसे औषधके बूँद नेत्रमें दो अंगुल ऊँचेसे नाककी ओरके कोनेमें डाले। इसको **आश्च्योतन** कहते हैं। आश्च्योतन करनेके पीछे पूर्वोक्त प्रकारके जलमें भिगोकर निचोड़ी हुई रूईसे नेत्रको पोंछ ले। वात और कफके रोगोंमें आश्च्योतनका द्रव गुनगुना और पित्त-रक्त तथा विषके विकारोंमें ठंढा लेना चाहिये=**"निवातशरणशयनस्थस्य विशोध्य नेत्रमपाङ्गे भाजनं कृत्वा वामहस्तेनोन्मील्य दक्षिणहस्तेन शुक्त्यवसिक्तया पिचुवर्त्या दश द्वादशाष्टौ वा बिन्दून् कनीनकदेशे द्व्यङ्गुलादवसेचयेत्। आश्च्योतितं च मृदुना चैलेन शोधयेत्। आश्च्योतनं वातकफयोः कोष्णं, सुशीतं पित्त-रक्त-विषेषु।"** (अ. सं. सू. ३२)। आश्च्योतनके **लेखन, स्नेहन** और **रोपण** ये तीन भेद हैं। लेखनमें ७ या ८, स्नेहनमें १० और रोपणमें १२ औषधकी बूँद नेत्रमें डालनी चाहिये=**"लेखने सप्त चाष्टौ वा बिन्दवः, स्नैहिके दश। आश्च्योतने प्रयोक्तव्या द्वादशैव तु रोपणे॥"** (सु. उ. तं. अ. १८)। आँखमें बूँद गेरनेके बाद एक सौ

---

१ मात्राका प्रमाण इसी खंडमें पृष्ठ १७ पर देखें।

मात्राकाल तक औषधको आँखमें रहने देना चाहिये="आश्च्योतनानां सर्वेषां मात्रा स्याद्वाक्शतं परम् ।" (शा. उ. खं. अ. १३)।

३ **पिण्डी**—नेत्रके अभिष्यन्दमें तथा व्रणमें औषधद्रव्योंका कल्क महीन कपड़ेमें रखकर या घृत-तैल आदि स्नेहद्रव्योंमें कपड़ा भिगोकर आँखपर बाँधा जाता है, उसको पिण्डी और कवलिका कहते हैं="पिण्डी कवलिका प्रोक्ता बध्यते पट्टवस्त्रकैः । नेत्राभिष्यन्दयोग्या च व्रणेष्वपि निबध्यते ॥" (शा. उ. खं. अ. १३)।

४ **बिडालक**—आँखके बालोंको छोड़कर पपोटे(पलकों)पर जो लेप किया जावे उसको बिडालक कहते हैं="पक्ष्मपरिहारेणाक्षिकोशालेपनं पुनः बिंडालकसंज्ञम् ।" (अ. सं. सू. अ. ३२); "बिडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जिते ।" (शा. उ. खं. अ. १३)।

५ **तर्पण**—वायु-धूप और धूलसे रहित स्थानमें रोगीको सीधा लेटाकर उसकी आँखके पपोटेके चारों ओर जलमें खूब साने हुए उड़दके आटेकी दो अंगुल[१] ऊँची, समान, दृढ और छिद्ररहित पाल बना, रोगीके नेत्र बन्द कराकर गरम जलमें पात्र रखकर पिघलाया हुआ और तत्तद्दोषहर औषधोंसे सिद्ध किया हुआ घृत या घृतमण्ड नेत्रोंके बाल डूब जावें इतना भरकर रोगीको आँख खोल देनेके लिये कहे । इस क्रियाको नेत्रतर्पण कहते हैं । स्वस्थ पुरुषको पाँच सौ, कफके रोगोंमें छः सौ, पित्तके रोगोंमें आठ सौ और वातके रोगोंमें एक हजार मात्राकाल तक तर्पण द्रव्य नेत्रमें रखना चाहिये । उसके बाद उड़दके आटेकी पालमें कानकी ओर सलाईसे छेद करके घी निकाल ले और पालको हटाकर गरम की हुई जौकी पिठ्ठीसे घी पोंछकर नेत्रको साफ करे="वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः । आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ ॥ समौ दृढावसंबाधौ कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः । पूरयेद्धृतमण्डेन विलीनेन सुखोदके ॥ आपक्ष्माग्रात्ततः स्थाप्यं पञ्च तद्वाक्शतानि तु । स्वस्थे, कफे षट्, पित्तेऽष्टौ, दश वाते"; "ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् । स्विन्नेन यवपिष्टेन" (सु. उ. अ. १८) । तर्पण स्नेहन होता है । उसके कर्मभेदसे अन्य प्रकार नहीं होते ।

६ **पुटपाक**—कर्मभेदसे पुटपाकके स्नेहन, लेखन और रोपण[२] ये तीन भेद होते हैं । स्नेहन पुटपाकमें आनूप प्राणियोंका तथा लेखन और रोपण पुटपाकमें

---

१ "नेत्रकोशाद्बहिर्द्व्यङ्गुलोच्छ्रयाधारौ" अ. सं. सू. अ. ३३ । २ वृद्धवाग्भटने पुटपाकके स्नेहन, लेखन और प्रसादन ये तीन भेद लिखे हैं—"स त्रिविधः—स्नेहनो, लेखनः, प्रसादनश्च ।" (अ. सं. सू. अ. ३३)।

जांगल प्राणियोंका मांस दो पल (८ तोला), तत्तत्पुटपाकोक्त औषधोंका चूर्ण ४ तोला और तत्तत्पुटपाकोक्त द्रव १६ तोला (अथवा साधारण ढीला कल्क बन सके इतना) ले, सबका कल्क बना, उसका पुटपाकोक्त[१]विधिसे पुटपाक कर, उसे कपड़ेमें दबा, निचोड़कर निकाला हुआ रस रोगीको सीधा लेटाकर तर्पणमें लिखे हुए विधानसे नाककी ओरके आँखके कोनेमें डाले । वात और कफके रोगमें रस गुनगुना तथा रक्त और पित्तके विकारोंमें रस ठंडा डालना चाहिये="स्नेहनो लेखनीयश्च रोपणीयश्च स त्रिधा । × × × । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पुटपाकप्रसाधनम् । द्वौ बिल्वमात्रौ श्लक्ष्णस्य पिण्डौ मांसस्य पेषितौ ॥ द्रव्याणां बिल्वमात्रं तु द्रवाणां कुडवो मतः । तदैकध्यं समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम् ॥ मृदावलिप्तमङ्गारैः खादिरैरवकूलयेत् । स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं नृणाम् ॥ तर्पणोक्तेन विधिना यथावदवचारयेत् । कनीनके निषेव्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः । रक्ते पित्ते च तौ शीतौ कोष्णौ वातकफापहौ ॥" (सु. उ. अ. १८) । स्नेहन पुटपाकको दो सौ, लेखन पुटपाकको एक सौ और प्रसादन (रोपण) पुटपाकको तीन सौ मात्रा काल तक आँखमें रखे="धारयेच्च स्नेहने शतद्वयं मात्राणां, लेखने शतं, प्रसादने त्रीणि शतानि ।" (अ. सं. सू. अ. ३३) ।

७ अञ्जन—सलाई या अंगुलीसे नेत्रमें औषध लगानेको अञ्जन कहते हैं । कल्पनाभेदसे अञ्जनके **गुटिका** (गोली और बत्ती), **रसक्रिया** तथा **चूर्ण** ये तीन भेद होते हैं="गुटिका-रस-चूर्णानि त्रिविधान्यञ्जनानि तु ।" (सु. उ. अ. १८) । कर्मभेदसे सुश्रुतने अञ्जनके **लेखन**, **रोपण** और **प्रसादन** ये तीन भेद लिखे हैं="लेखनं रोपणं चैव प्रसादनमथापि च ।" (सु. उ. अ. १८) । वृद्धवाग्भटने **लेखन**, **रोपण**, **स्नेहन** और **प्रसादन** ये चार भेद लिखे हैं="तत्तु लेखनं, रोपणं, स्नेहनं, प्रसादनमिति चतुर्विधं भवति ।" (अ. सं. सू. अ. ३२) । सुश्रुतके मतमें स्नेहनका प्रसादनमें अन्तर्भाव मानना चाहिये । **तीक्ष्ण** और **मृदु** भेदसे वृद्धवाग्भटने अञ्जनके दो भेद माने हैं="द्विविधमेव वा मृदु, तीक्ष्णं च" । तीक्ष्ण अञ्जनसे संतप्त नेत्रमें प्रसादनके लिये तीक्ष्ण अंजनके बाद जो अञ्जन किया जाता है उसको **प्रत्यञ्जन** कहते हैं="प्रसादन एव चूर्णस्तीक्ष्णाञ्जनाभिसंतप्ते चक्षुषि प्रयुज्यमानः प्रत्यञ्जनसंज्ञां लभते ।" (अ. सं. सू. अ. ३२) । वर्ति या रसक्रिया लेखनके लिये १ मटर जितनी प्रसादनके लिये १॥ मटर जितनी और रोपणके लिये २ मटर जितनी लेनी चाहिये="हरेणुमात्रा वर्तिः स्याल्लेखनस्य प्रमाणतः । प्रसादनस्य

१ पुटपाकका विधान इसी खंडमें पृ. २६ पर लिखा है ।

चाध्यर्धा, द्विगुणा रोपणस्य च ॥ रसाञ्जनस्य मात्रा तु यथावर्तिस्मिता मता ।" (सु. उ. अ. १८)। चूर्णाञ्जन सलाईके अग्रभागपर उठे इतना लेखनमें दो वार, प्रसादनमें तीन वार और रोपणमें चार वार लगाना चाहिये=**"द्वि-त्रि-चतुःशलाकाश्च चूर्णस्याप्यनुपूर्वशः ।"** (सु. उ. त. अ. १८)। वृद्ध वाग्भट कहते हैं कि—तीक्ष्णाञ्जनकी वर्ति १ मटर प्रमाण और रसक्रिया एक वायविडंग प्रमाण लेनी चाहिये और मृदु अञ्जनकी इससे दूनी मात्रा लेनी चाहिये=**"तत्र पिण्डो हरेणुमात्रस्तीक्ष्णस्य, रसक्रिया विडङ्गमात्रा; तद्द्विगुणा मृदोः । चूर्णो द्विशलाकः (तीक्ष्णस्य), मृदोस्त्रिशलाकः ।"** (अ. सं. सू. अ. ३२)। नेत्रमें अञ्जनके लिये शलाका (सलाई) सोना, चाँदी, सींग (और हाथीके दाँत), ताँबा, वैदूर्य (लहसुनिया आदि रत्न और काच आदि उपरत्न), काँसा या लोहा-इनमेंसे किसी एककी, आठ अंगुल लम्बी, मध्यमें जरा पतली, दोनों ओर पुष्पकी कलीके आकारकी, चिकनी (खूब पॉलिश की हुई), और अग्रभागमें तीक्ष्ण न हो ऐसी बनवानी चाहिये=**"तेषां तुल्यगुणान्येव विदध्याद्भाजनान्यपि । सौवर्णं राजतं शार्ङ्गं ताम्रं वैदूर्यकांस्यजम् ॥ आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्रमम् । वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला ॥ अष्टाङ्गुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा ।"** (सु. उ. अ. १८)। बायें हाथके अंगूठे और अंगुलीसे आँख खोल, दाहिने हाथमें शलाका पकड़, उसपर अञ्जन लेकर शलाका सावधानीसे आँखमें फिरा देनी चाहिये=**"वामेनाक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः । शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् कानीनमञ्जनम् ॥ आपाङ्ग्यं वा यथायोगं कुर्याच्चापि गतागतम् ।"** (सु. उ. अ. १८)। जो अञ्जन मात्र वर्त्ममें (पलकके अन्दर) लगाना हो उसको अंगुलीसे लगावे=**"वर्त्मोपलेपि वा यत्तदङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ।"** (सु. उ. अ. १८)। वर्तिको जल-दूध आदि ग्रन्थमें लिखे हुए द्रव पदार्थमें खूब महीन पीसकर शलाकासे लगाना चाहिये। रसक्रिया और मलहम शलाका या अंगुलीसे लगाया जाता है।

वक्तव्य—नेत्रमें औषधप्रयोग करनेके सातों प्रकारोंका यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया है। इस विषयमें जिनको विशेष जाननेकी इच्छा हो वे सु. उ. अ. १८, अ. सं. सू. अ. ३२-३३; अ. हृ. सू. अ. २१-२२ तथा शा. उ. खं. अ. १३ देखें।

कर्णपूरणविधि ।

कानमें औषधद्रव्योंका चूर्ण, स्वरस, तैल आदि डालनेको **कर्णपूरण** कहते हैं। कर्णपूरणकी विधि **अष्टाङ्गसंग्रह** तथा **शार्ङ्गधरसंहितामें** इस प्रकार लिखी है—**"धारयेत् पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन् । रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ॥"** (अ. सं. चि. अ. ३१); **"स्वेदयेत् कर्णदेशं तु**

किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः । मूत्रैः स्नेहै रसैः कोष्णैस्ततः श्रोत्रं प्रपूरयेत् ॥ कर्णं च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्चशतानि वा । सहस्रं वाऽपि मात्राणां श्रोत्र-कण्ठ-शिरोगदे ॥" (शा. उ. खं. अ. ११)। रोगीके जिस कानमें दवा डालनी हो वह कान ऊपर रहे इस प्रकार उसे बाजूपर (करवटपर) लिटा, कानको थोड़ा सेंक; गुनगुने किए हुए तैल-मूत्र-स्वरस आदि द्रवपदार्थ कानमें भरकर कानके मूलमें चारों ओर अंगुलियोंसे मर्दन करे। कानमें भरा हुआ औषध वेदना कम होने-तक कानमें रखे अथवा कानके रोगोंमें एक सौ, कण्ठके रोगोंमें पाँच सौ और सिरके रोगोंमें एक हजार अक्षरोंके उच्चारण करने (मात्राकाल) तक रखे। स्वस्थ पुरुषके कानमें तैल भरा गया हो तो उसको एक सौ अक्षरोंके उच्चारण करने तक रखे।

यदि कान पककर उसमें पीब होगई हो तो सलाईके एक सिरेपर संशोधित शोषक रूई (Sterilized absorbent cotton) लगाकर उससे कानको अच्छी तरह पोंछ डाले; इसको **कर्णप्रमार्जन या कर्णप्रोञ्छन** कहते हैं="**प्रमार्जनं धावनं च वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्**।" (सु. उ. अ. २१)। "प्रमार्जनं पिचु-कूर्चिकया कर्णप्रोञ्छनं, धावनं प्रक्षालनम्" (डल्हण)। कान पककर उसमें पीब पड़ गई हो तो व्रणशोधन या व्रणरोपण क्वाथ आदिसे पिचकारीके द्वारा कान धोया जाता है। इसको **कर्णधावन** या **कर्णप्रक्षालन** कहते हैं। कान धोते समय, क्वाथ आदि गुनगुने लेने चाहिये। कानको पिचकारीसे अधिक वेगसे नहीं धोना चाहिये, अन्यथा कानके पड़देको हानि होनेकी संभावना रहती है।

कानमें क्रिमिघ्न और वेदनाहर औषधोंको जलाकर नलीके द्वारा उसका धुआँ पहुँचाया जाता है। इसको **कर्णधूपन** कहते हैं।

मूर्धतैलविधि।

सिरपर तैलका जो प्रयोग किया जाता है उसको **मूर्धतैल** कहते हैं। **अभ्यङ्ग, परिषेक, पिचु** और **शिरोबस्ति**[१] इन चार प्रकारों (विधियों)से सिरपर तैलका प्रयोग किया जाता है। इन चार विधियोंमें उत्तरोत्तर विधि बलवान् (अधिक गुण करनेवाली) है="**मूर्धतैलं पुनश्चतुर्धा भिद्यते-अभ्यङ्गः, परिषेकः, पिचुः, बस्तिरिति**।" (अ. सं. सू. अ. ३२)। सिरपर तेलकी मालिश करनेको **शिरोभ्यङ्ग**, सिरपर तेलकी धार गेरनेको **शिरःपरिषेक**, तेलमें भिगोई हुई रूई या कपड़ेको सिरपर धारण करनेको **शिरःपिचु** और सिरपर तेलकी बस्ति धारण करनेको **शिरोबस्ति** कहते हैं।

---

१ शिरोबस्तिका विधान अष्टाङ्गहृदय सू. अ. २२ में इस प्रकार लिखा है—"विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ। शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्॥ द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम्। आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते॥ चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन

मुखालेपविधि ।

मुँह(चेहरे)के ऊपर जो लेप किया जाता है उसको **मुखालेप** कहते हैं । उसके **दोषघ्न**, **विषघ्न** और **वर्ण्य** ये तीन भेद हैं । मुँहके ऊपर अंगुलका चतुर्थांश, तृतीयांश और आधा अंगुल इस प्रकार तीन प्रकारकी मोटाईका लेप लगाया जाता है । मुँहपर लेप लगाकर अधिक बोलना, हँसना, क्रोध करना, शोक करना, रोना, खाना, अग्निके तापके पास बैठना, धूपमें बैठना और दिनमें सोना नहीं चाहिये । मुँहपर लेप सूखने लगे तब उसको गीला करके निकालकर चेहरेपर तेल लगा दे="**मुखालेपोऽपि त्रिविधः—दोषघ्नो, विषघ्नो, वर्ण्यश्च । त्रिप्रमाणः—चतुर्भाग-त्रिभागार्धाङ्गुलोत्सेधः । न चालिप्तमुखोऽतिभाष्य-हास्य-क्रोध-शोक-रोदन-खादनाग्नितापदिवास्वप्नान् सेवेत × न च शुष्यन्नुपेक्षितव्यः × × × तमार्द्रयित्वाऽपनयेत् । आलेपान्ते च मुखमभ्यज्यात्**" (अ. सं. सू. अ. ३१) ।

बस्तिविधिः ।

गुदा(मलद्वार)में, मूत्रमार्गमें अथवा योनि(अपत्यमार्ग)में बस्तियन्त्र. (पिचकारी) द्वारा जो औषध दिया जाता है उसको सामान्यतः **बस्ति** या **बस्तिकर्म** (पिचकारी देना) कहते हैं । **आस्थापन, अनुवासन** और **उत्तरबस्ति**—ये बस्तिके तीन मुख्य भेद हैं—"**स तु बस्तिस्त्रिविधः—आस्थापनम्, अनुवासनम्,**

लेपयेत् । ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत् ॥ ऊर्ध्वं केशभुवो यावद् व्यङ्गुलं धारयेच्च तम् । आवक्त्रनासिकोत्क्लेदाद्दशाष्टौ षट् चलादिषु ॥ मात्रासहस्राण्यरुजे त्वेकं स्कन्धादि मर्दयेत् । मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य धारणम् ॥"; "विना भोजनमेवात्र शिरोबस्तिः प्रशस्यते । विमोच्य शिरसो बस्तिं गृह्णीयाच्च समन्ततः । ऊर्ध्वकायं ततः कोष्णनीरैः स्नानं समाचरेत् ॥"; (शा. उ. खं. अ. ११)=शिरोबस्तिके लिये गाय या भैंसके चमड़ेका १२ अंगुल ऊँचा, दोनों ओर खुला, बीचमें कहींसे भी तेल न निकले इस प्रकार सिया हुआ रोगीके सिरके नापका एक टोपा बनावे । पीछे रोगीको घुटने जितने उँचे नरम आसनपर बिठा, उसके कपालपर कपड़ा बाँध, कानके ऊपर टोपा पहना, कपड़ेकी मजबूत पट्टीसे अच्छी तरह टोपेको बाँधकर सन्धिस्थानको उड़दकी पिट्ठीके लेपसे तेल बाहर न आवे इस प्रकार बन्द करके उस टोपेमें रोगानुसार सिद्ध किया हुआ गुनगुना तेल सिरके ऊपर दो अंगुलतक भरकर मुँह और नाकसे पानी आने लगे तबतक या वातरोगमें दश हजार, पित्तरोगमें आठ हजार, कफरोगमें छः हजार और स्वस्थके लिये एक हजार अक्षरोंके उच्चारण करने (मात्रा-काल) तक तेलको रहने दे । बाद रूईसे तेल निकाल, टोपा खोलकर रोगीको गुनगुने जलसे स्नान करावे । अधिकसे अधिक सात दिन तक शिरोबस्तिका प्रयोग करे । शिरोबस्तिका प्रयोग शामको भोजनके पहले और सिरके बाल निकलवाकर करना चाहिये ।

उत्तरबस्तिः, इति ।" (अ. सं. सू. अ. २८)। आस्थापनको निरूह और अनुवासनको स्नेहवस्ति भी कहते हैं। दोषदूष्यादिके अनुसार नानाप्रकारके क्वाथ, तैलादि स्नेह, शहद, लवण, मूत्र-दूध आदि द्रव पदार्थ मिलाकर जो बस्ति दी जाती है उसको आस्थापन या निरूह कहते हैं="तत्रास्थापनं दोष-दूष्याद्यनुसारेण नानाद्रव्यसंयोगादभिनिर्वृत्तम् ।" (अ. सं. सू. अ. २८)। कर्मभेदसे आस्थापनके उत्क्लेशन, संशोधन, संशमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण, पिच्छाबस्ति, माधुतैलिक आदि अनेक भेद होते हैं="तस्य भेदाः—उत्क्लेशनं, संशोधनं, संशमनं, लेखनं, बृंहणं, वाजीकरणं, पिच्छाबस्तिः, माधुतैलिकम्, इत्यादि ।" (अ. सू. अ. २८)। जिस बस्तिमें मधु और तैल ये दो मुख्य द्रव्य हों उसको माधुतैलिक कहते हैं="मधु-तैलप्राधान्यान्माधुतैलिकः ।" (इन्दुः)। यापन, युक्तरथ और सिद्धबस्ति ये तीन माधुतैलिकके पर्याय (दूसरे नाम) हैं="तस्य (आस्थापनस्य) विकल्पो माधुतैलिकः; तस्य पर्यायशब्दो यापनो, युक्तरथः, सिद्धबस्तिः, इति ।" (सु. चि. अ.)। अनुवासनबस्ति मुख्यतया स्नेहन कर्मके लिये तत्तद्दोषहर स्नेहसे दी जाती है "अनुवासनं यथार्हौषधसिद्धः स्नेहः स्नेहनार्थः ।" (अ. सं. सू. अ. २८)। अनुवासनका ही भेद मात्राबस्ति है, जिसमें अनुवासनकी पूर्ण मात्रासे चतुर्थांश स्नेह दिया जाता है—"तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिः ।" (सु. चि. अ. ३५)।

आस्थापन बस्तिकी उत्तम मात्रा १२ प्रसृत (२४ पल=९६ तोला) है। अनुवासनकी उत्तम मात्रा ६ पल (२४ तोला), मध्यम मात्रा ३ पल (१२ तोला) और छोटी मात्रा १॥ पल (६ तोला) है="षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा, मध्यमा त्रिपली भवेत् । कनीयस्यध्यर्धपला, त्रिधा मात्राऽनुवासने ॥" (निबन्धसंग्रह-व्याख्यामें उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)। मात्राबस्तिकी मात्रा १॥ पल (६ तोले) की है। अवस्था (उम्र) के अनुसार आस्थापनकी मात्रा प्रथम (एक) वर्षके बालकके लिये १ पल (४ तोला) की, पीछे प्रति बर्ष १-१ पल बढ़ाते १२ वर्षके लिये १२ पलकी, पीछे प्रति वर्ष २ पल बढ़ाकर १८ वर्षके लिये २४ पलकी, १८ से ७० वर्षतकके लिये २४ पलकी, और ७० के बाद जीवन पर्यन्त २० पलकी मात्रा लेनी चाहिये="निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः । आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद्द्वादशतः परं स्युः ॥ आसप्ततेस्तद्विहितं प्रमाणमतः परं षोडशवद्विधेयम्" (च. सि. अ. ३)। माधुतैलिक बस्तिमें अवस्थाके अनुसार जो आस्थापनकी मात्रा लिखी है उससे एकचतुर्थांश कम (अर्थात् पौनी-तीन चतुर्थांश) मात्रा लेनी चाहिये="यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीना माधुतैलिके प्रयोज्या ।" (अ. सं. सू. अ. २९)।

उत्तरबस्ति—पुरुषोंको मूत्रमार्गमें और स्त्रियोंको मूत्रमार्ग तथा योनिमार्ग (अपत्य-पथ)में पिचकारीके द्वारा जो औषधका प्रयोग किया जाता है उसको **उत्तरबस्ति** कहते हैं। उत्तरबस्तिके भी **अनुवासन** और **निरूह** ये दो भेद हैं। केवल स्नेहसे जो उत्तरबस्ति दी जाती है उसको **अनुवासनोत्तरबस्ति** और क्वाथादिसे जो उत्तरबस्ति दी जाती है उसको **निरूहोत्तरबस्ति** कहते हैं।

आरम्भमें एक अनुवासन, इसके बाद बीचमें एक वार आस्थापन और एक वार अनुवासन ऐसे १२ आस्थापन तथा १२ अनुवासन, और अन्तमें ५ अनुवासन इस प्रकार ३० बस्तियोंका जो प्रयोग किया जावे उसको **कर्मबस्ति** कहते हैं=**"प्राक् स्नेह एकः पञ्चान्ते, द्वादशास्थापनानि च। सान्वासनानि, कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः॥"** (अ. सं. सू. अ. २८)। प्रारम्भमें एक अनुवासन, इसके बाद बीचमें एकवार आस्थापन और एकवार अनुवासन, इस प्रकार ६ आस्थापन तथा ६ अनुवासन और अन्तमें दो अनुवासन इस प्रकार १५ बस्तियोंके प्रयोगको **कालबस्ति** कहते हैं=**"कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा। षट् पञ्च बस्त्यन्तरिताः"** (अ. सं. सू. अ. २८)। आदिमें एक अनुवासन, इसके बाद बीचमें एक बार अनुवासन और एक बार आस्थापन ऐसे ३ आस्थापन और ३ अनुवासन तथा अन्तमें एक अनुवासन इस प्रकार आठ बस्तियोंके प्रयोगको **योगबस्ति** कहते हैं=**"योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु। त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ॥"** (अ. सं. सू. अ. २८)।

बस्ति देनेके लिये जो पिचकारी बनाई जाती है उसको **बस्तियन्त्र** कहते हैं। भैंसा आदि पशुओंके बस्ति(मूत्राशय)को सुखा, साफ कर, उसका फुँकना बनाकर उसमें धातु, हाथीदाँत आदिकी नली बाँधकर उसका बस्तियन्त्र बनाया जाता है। निरूह या अनुवासन बस्तियन्त्रके फुँकनेमें जो नली लगाई जाती है उसको **बस्तिनेत्र** कहते हैं। उत्तरबस्तियन्त्रमें जो नली बाँधी जावे उसको **चरकने पुष्पनेत्र** नाम दिया है (देखें च. सि. अ. ९)। बस्तिनेत्रके मध्यमें वह प्रमाणसे अधिक मलद्वार, मूत्रमार्ग या अपत्यपथमें न जावे इस लिये एक **कर्णिका** बनानी चाहिये। बस्तियन्त्रके मूलमें फूँकना बाँधनेके लिये दो कर्णिकायें बनानी चाहिये। प्राचीन बस्तियन्त्रका यह संक्षिप्त स्वरूप है। आजकल विलायती दवा बेचनेवालोंके यहाँ रबरका फुँकना लगा हुआ या एनिमा देनेका काच या धातुका डिब्बेके आकारका **बस्तियन्त्र** मिलता है, उससे भी काम लिया जा सकता है।

तीनों प्रकारके **बस्तिकर्म**का विवरण यहाँ संक्षेपमें पारिभाषिक शब्दों(संज्ञाओं)की व्याख्याकी दृष्टिसे किया गया है। किन रोगोंमें और किनको बस्ति देना, किनको बस्ति न देना, बस्तिकर्मके गुण, बस्तियन्त्र बनानेकी और बस्ति देनेकी विधि, बस्तिकर्मके लिये

द्विविध औषधोंके योग आदि विषयोंका सु. चि. अ. ३५-३६-३७-३८, च. सि. अ. १-२-३-४-५-७-८-९-१०-११-१२; अ. सं. सू. अ. २८; अ. हृ. सू. १९ तथा शा. उ. खं. ६-७ में बहुत विस्तारसे वर्णन किया है।

बस्तिकर्मके अतिरिक्त मलमार्ग, मूत्रमार्ग और योनिमें औषधद्रव्योंकी बत्ती बनाकर रखी जाती है, उसको **फलवर्ति** कहते हैं। स्त्रियोंको तेलमें भिगोया हुआ फाहा (फोया) योनिमें रखा जाता है, उसको **तैलपिचु**[1] कहते हैं। औषधद्रव्योंके चूर्णको कपड़ेमें पोटली बनाकर या औषधद्रव्योंका कल्क योनिमें रखा जाता है उसको **योनिपूरण** कहते हैं। क्वाथ या स्फटिकाद्रव आदिसे जो योनि आदि धोये जाते हैं उसको **धावन** कहते हैं। मलद्वार तथा योनिमें अंगुली या नलीसे मरहम लगाना, धुआँ देना आदि प्रकारसे भी औषधद्रव्योंका प्रयोग किया जाता है।

त्वचाद्वारा औषधद्रव्योंका प्रयोग।

स्थानिक या सार्वदेहिक क्रियासंपादनार्थ त्वचाके द्वारा औषधद्रव्योंका प्रयोग किया जाता है। इसके मुख्य तीन भेद हैं;—१ साक्षात् (सीधा) त्वचाके ऊपर औषध द्रव्योंका प्रयोग करना, २ त्वचाके ऊपर फोड़ा उठाकर उसके क्षतमें औषध लगाना, ३ त्वग्भेद (त्वचामें छेद) करके औषध द्रव्यको शरीरके अन्दर पहुँचाना। क्रमशः इनका वर्णन किया जाता है।

१—त्वचाके ऊपर औषधका प्रयोग—स्नेहद्रव्योंका अभ्यङ्ग करना, वनस्पतियोंके स्वरस-मद्य-सिरका आदि लगाना-मलना, मरहम या मरहमकी पट्टी बनाकर लगाना, रूई-कपड़ा आदि कोरा ही या गरम जल आदिमें भिगोकर उससे सेंकना, गुलाबजल-नौसादर आदिका द्रव-सिरका आदि ठंढे द्रवपदार्थमें कपड़ा भिगोकर शरीर पर रखना, बर्फभरी थैली शरीरपर रखना, बफारा (बाष्पस्वेद) देना, गरम या ठंढे क्वाथ-जल आदिमें रोगीको कमर या गले आदि तक बैठाना (अवगाह), गरम या ठंढे क्वाथ-जल आदिसे रोगीके पाँव, कमर या समग्र शरीरको नहलाना (पादस्नान, कटिस्नान, समग्रशरीरस्नान), ठंढे या गरम जल आदिमें भिगोये हुए कपड़ेसे शरीर पोंछना (शरीरप्रोंछन-शरीरप्रमार्जन), पुलटिस बाँधना (उपनाह), लेप लगाना, धूपन करना आदि क्रियाएँ प्रथम प्रकारके (त्वचाके साथ औषध द्रव्योंका साक्षात् संबन्ध करानेके) अन्तर्गत हैं।

२—त्वचाके ऊपर फोड़ा उठाकर उसके क्षतमें औषध लगाना—श्वित्र (सफेद कोढ़) में त्वचापर फोड़े उठाकर उस स्थानपर लेप करनेका विधान

१ "× × सिद्धस्य तैलस्य पिचुं योनौ निधापयेत्।" (च. चि. अ. ३०, श्लो० ७५)।
२ × × "हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहताः। संस्पर्शाः" (च. चि. अ. २४)।

सुश्रुत-आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है="भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलघ्नाः। सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं स्फोटाच्छित्रे पुण्डरीके च कुर्यात्॥ द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः॥" (सु. चि. अ. ९)।

३—त्वग्भेद करके औषधका प्रयोग—तीव्र सन्निपातज्वरमें सिरके तालु-भागमें प्रच्छन्न करके (पच्छने लगाकर) उस स्थानमें गरम जलमें उबाली हुई सूईसे सूचिकाभरणरस लगानेका विधान **रसरत्नसमुच्चय** (अ. १२)में पाया जाता है="मृतसंजीवनाख्योऽयं सूचिकाभरणो रसः। सन्निपातेन तीव्रेण मुमूर्षोर्भूगतस्य च॥ तालुनि प्रच्छयित्वाऽथ रसमेनं विनिक्षिपेत्। सूच्याऽतिसूक्ष्मया तोयस्विन्नयाऽतिप्रयत्नतः॥" । आजकल डॉक्टरी चिकित्सामें औषधोंके द्रवकल्प बना, त्वग्भेद कर उनका त्वचाके नीचे, मांसपेशीमें अथवा सिरामें तीक्ष्णाग्र सूक्ष्मनलिका(नीडल-Needle)द्वारा प्रयोग (इंजेक्शन) किया जाता है। वैद्योंमें भी आयुर्वेदीय औषधोंके द्रवकल्प बनाकर उनके इंजेक्शन देनेके प्रचारका प्रारम्भ हुआ है।

त्वचाके द्वारा शरीरपर औषधद्रव्योंके पहले और दूसरे प्रकारके प्रयोगको **औषधोंके बाह्यप्रयोग** नाम देना उचित है।

स्वेदविधि।

जिस कर्मके द्वारा शरीर तप्त हो या शरीरसे पसीना निकले उसको **स्वेदन** या **स्वेद** कहते हैं। **सुश्रुत, वृद्धवाग्भट** और **वाग्भट**ने स्वेदके **तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेद** और **द्रवस्वेद** ये चार मुख्य भेद लिखे हैं। इन चार भेदोंमें ही चरकादिने लिखे हुए अन्य स्वेदोंका अन्तर्भाव माना है="चतुर्विधः स्वेदः; तद्यथा—तापस्वेदः, ऊष्मस्वेदः, उपनाहस्वेदः, द्रवस्वेदः, इति। अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः।" (सु. चि. अ. ३२)। इन चार स्वेदोंकी क्रमशः व्याख्या की जाती है—

१ **तापस्वेद**—अग्निसे तपाये हुए वस्त्र, रूई, धातुओंकी पट्टी, हथेली, ईंट, बालू, नमक आदिकी पोटली तथा निर्धूम अग्निका ताप आदिसे शरीरके सेंकनेको **तापस्वेद** कहते हैं="तापोऽग्नितप्तवसनफाल-हस्ततलादिभिः।" (अ. हृ. सू. अ. १७)। तापस्वेदको भाषामें **तपाना** या **सेंकना** कहते हैं।

२ **ऊष्मस्वेद**—ऊष्मस्वेदको भाषामें **बफारा देना** कहते हैं। ऊष्मस्वेद तीन प्रकारसे दिया जाता है;—१-ठीकरा, पत्थरके गोले या शिला, जमीन, ईंट, लोहेके गोले आदिको खूब तपा, उनपर जल-वातहर द्रव्योंका क्वाथ आदि छिड़ककर उनसे जो

बाष्प (भाप) निकले उसके द्वारा रोगीको सेंकना; २-एक चौड़े मुँहके बड़े पात्रमें जल-दूध-मांस-दही-काँजी-वातहर वनस्पतियोंकी पत्ती आदि उबालकर उसके द्वारा बफारा देना; ३-एक छोटे मुँहके बड़े घड़ेमें दूसरे प्रकारमें लिखे हुए जल-दूध आदि पका, उसपर दूसरा घड़ा रख, दोनोंकी सन्धिको बन्द कर, दूसरे घड़ेके पार्श्वमें छिद्र कर, उसमें नली बैठाकर, उस नलीसे आती हुई बाष्प(भाप)के द्वारा स्वेद देना । इसको नाडीस्वेद कहते हैं।

३ **उपनाहस्वेद**—इसको भाषामें **पुलटिस लगाना** कहते हैं। उपनाहकी कल्पना इसी खण्डमें पृ. ६३ पर देखें।

४ **द्रवस्वेद**—जल आदि द्रव पदार्थोंको गरम करके उसमें रोगीके बैठाने या रोगीके शरीरपर उसकी धार छोड़नेको **द्रवस्वेद** कहते हैं। द्रवस्वेदके दो भेद हैं— १ **अवगाह** और २ **परिषेक** । गरम जल या वातहर औषधोंके क्वाथ आदि गरम द्रव पदार्थोंसे भरी हुई कड़ाही या द्रोणीमें रोगीको बैठाने या सुलानेको **अवगाह-स्वेद** कहते हैं। वातहर औषधोंके क्वाथ आदिकी रोगीके शरीरपर धारा करनेको **परिषेकस्वेद** कहते हैं।

इनमें विशेष करके ताप और ऊष्मस्वेद कफघ्न हैं, उपनाहस्वेद वातघ्न है और वात तथा कफके साथ पित्तका भी संसर्ग हो तब द्रवस्वेद कराया जाता है="**तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ, उपनाहस्वेदो वातघ्नः, अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति** ।" (सु. चि. अ. ३२)। वायु, कफ और मेदसे आवृत हो तो रोगीको निवात गृहमें रखना, धूपमें बैठाना, गरम और मोटे कपड़ेसे ढाँकना, कुस्ती कराना, चलाना, व्यायाम कराना, भार उठवाना और क्रुद्ध करना, भूखा रखना, खब मद्य पिलाना—इन प्रक्रियाओं द्वारा पसीना लाना चाहिये="**कफमेदोऽन्विते वायौ निवातातप-गुरुप्रावरण-नियुद्धाध्व-व्यायाम-भारहरणामर्षैः स्वेद-मुत्पादयेदिति**" (सु. चि. अ. ३२)। "व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा। बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥ स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ।" (च. सू. अ. १४)। ये क्रियाएँ अग्निकी साक्षात् सहायताके विना स्वेद लाती हैं।

स्वेदके स्थानभेदसे **एकाङ्गस्वेद** और **सर्वाङ्गस्वेद**, गुणभेदसे **रूक्षस्वेद** और **स्निग्धस्वेद** तथा **अग्निगुणयुक्त** और **अग्निगुणरहित** ये छः[1] भेद होते हैं।

स्वेदनका विषय यहाँ संक्षेपमें लिखा है। किनको स्वेदन कराना और किनको न कराना, स्वेदनके गुण, स्वेदनमें उपयोगमें आनेवाले द्रव्य, भिन्न भिन्न स्वेदन करानेकी

---

१ "इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च । एकाङ्ग-सर्वाङ्गगतः स्निग्धो रूक्षस्तथैव च ॥" (च. सू. अ. १४)।

विधि-आदि विषयोंका वर्णन च. सू. अ. १४, सु. चि. अ. ३२, अ. सं. सू. अ. २६, अ. हृ. सू. अ. १७ तथा काश्यपसंहिता सू. अ. २३ में विस्तारसे किया है।

व्रणशोथ और व्रणपर औषधप्रयोग।

व्रणशोथ और व्रणपर विम्लापन, प्रह्लादन (वेदनाहरण), पाचन, दारण, पीडन, शोधन, रोपण, उत्सादन, अवसादन, निर्वापण, सवर्णीकरण, रोमजनन, रोमापहरण, कृमिनाशन (रक्षोघ्न), कठिनीकरण, मार्दवकरण आदि कर्मों(उद्देश्यों)के लिये लेप, परिषेक, अभ्यङ्ग, उपनाह, स्वेदन, अवचूर्णन, धूपन, प्रतिसारण, पत्रदान, प्रक्षालन आदि प्रक्रियाओं(उपायों)के द्वारा कल्क, कषाय, घृत, तैल, रसक्रिया, क्षार, वर्ति, चूर्ण, मरहम आदि कल्पोंका औषधके रूपमें प्रयोग किया जाता है। इनमेंसे विम्लापन, पाचन, दारण, प्रपीडन, शोधन, रोपण, उत्सादन, अवसादन, रोमजनन, रोमापहरण (रोमशातन), कृमिनाशन (रक्षोघ्न) इन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या इसी ग्रन्थके पूर्वार्ध(द्वि. सं.)में पृ. ७२–७६ पर आ चुकी है। निर्वापणकी व्याख्या पू. पृ. ४५ पर तथा मार्दवकरकी व्याख्या पूर्वार्ध पृ. ७७ पर दी गई है। शेष लेप आदिका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है—

१ **लेप**—व्रणशोथमें प्रारम्भमें ही वेदना-पीडा कम करने तथा शोथ बैठाने- (विम्लापन)के लिये और व्रण होनेपर शोधन, रोपण, उत्सादन, अवसादन आदि कर्मोंके लिये लेप किया जाता है="**प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा। उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत्॥**" (सु. चि. अ. १)। "प्रह्लादने सुखकरणे, रुजापनयनात्" (ड.)। लेपकी कल्पना इसी खण्डमें पृ. ६२–६३ पर देखें।

२ **परिषेक**—व्रणशोथमें पीडा कम करनेके लिये दोषानुसार घृत, तैल, काँजी, मांसरस, दूध, मूत्र, सिरका आदि द्रवपदार्थ शोथके ऊपर धारसे गेरे जाते हैं। इस क्रियाको परिषेक कहते हैं। वात और कफके शोथमें गरम और पित्तके शोफमें ठंढे द्रवपदार्थोंसे परिषेक करना चाहिये। "वातशोफे तु वेदनोपशमार्थं सर्पिस्तैलधान्याम्लमांसरसवातघ्नौषधनिष्क्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत; पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्तेषु क्षीरघृतमधुशर्करोदकेक्षुरसमधुरौषधनिष्क्वाथैरनुष्णैः परिषेकान् कुर्वीत; श्लेष्मशोफे तु तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत।" (सु. चि. अ. १)।

३ **अभ्यङ्ग**—दोषानुसार वात और कफके व्रणशोथमें तैलसे तथा पित्त और रक्तके व्रणशोथमें शतधौतघृतसे अभ्यङ्ग किया जाता है–"**अभ्यङ्गस्तु दोषमालोक्योपयुक्तो दोषोपशमं मृदुतां च करोति।**" (सु. चि. अ. १)।

४ **उपनाह**—कच्चे व्रणशोथमें शोथको बैठानेके लिये तथा पकने लगे हुए (विदग्ध) व्रणशोथमें शोथको शीघ्र पकानेके लिये उपनाह (पुलटिस) किया जाता है="**शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः। अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च॥**" (सु. चि. अ. १)। उपनाहकी कल्पना इसी खण्डमें पृ. ६३ पर देखें।

५ **स्वेदन**—पीड़ायुक्त और कठिन व्रणशोथ या व्रणोंपर स्वेदन किया जाता है= "**रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च। शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः॥**" (सु. चि. अ. १)। स्वेदनकी विधि इसी खण्डमें पृ. १४०-१४१ पर देखें।

६ **अवचूर्णन**—व्रणोंमें शोधन या रोपणके लिये तत्तद्गुणवाले औषधोंका सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण छिड़का जाता है, इसे **अवचूर्णन** कहते हैं।

७ **धूपन**—व्रणधूपनका विषय इसी खण्डमें पृ. १२७ पर देखें।

८ **प्रतिसारण**—व्रणशोथ या व्रणके ऊपर रसक्रिया-क्षार आदि अंगुली, फाहा आदिसे लगाये जाते हैं। इस क्रियाको **प्रतिसारण** कहते हैं।

९ **पत्रदान**—जो व्रण कठिन, थोड़े मांसवाले और रूक्ष होनेसे न भरते-रुझते हों उनपर दोष और ऋतुके अनुसार विभिन्न वनस्पतियोंके पत्र बाँधे जाते हैं, इसको **पत्रदान** कहते हैं। व्रणमें औषधका कल्क या स्नेहकी बत्ती देकर ऊपर पत्र रखनेसे पट्टबन्धका कपड़ा औषधके सार या स्नेहको चूस-शोष नहीं लेता="**स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम्। पत्रदानं भवेत् कार्यं यथादोषं यथर्तु च॥ स्नेहमौषधसारं च पट्टः पत्रान्तरीकृतः। नादत्ते यत्ततः पत्रं कल्कस्योपरि दापयेत्॥**" (सु. चि. अ. १)।

१० **प्रक्षालन**—व्रणको यथावश्यक शोधन या रोपण क्वाथोंसे धोया जाता है, उसको **व्रणप्रक्षालन** या **व्रणधावन** कहते हैं। व्रणप्रक्षालनके लिये पिचकारी (व्रणबस्ति) या शोषक रूईसे काम लेना चाहिये। नाडीव्रणमें तैल देना हो तो वह व्रणबस्तिसे देना चाहिये="**नाडीव्रणप्रक्षालनाभ्यञ्जनयन्त्रे षडङ्गुले बस्तिं यन्त्राकारे मुखतोऽकर्णिके मूल-मुखयोरङ्गुष्ठकलायप्रवेशस्रोतसी।**" (अ. सं. सू. अ. ३४)।

११ **कल्क**—व्रणमें स्राव बन्द करने, कोमलता लाने, गला हुआ मांस निकालने और व्रणके शोधन तथा रोपणके लिये शोधन या रोपण औषधोंका कल्क दिया जाता है="**तस्य (लेपस्य) उपयोगः क्षताक्षतेषु। यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः 'कल्क' इति संज्ञां लभते निरुद्धालेपनसंज्ञः। तेनास्रावसन्नि-**

रोधो मृदुता पूतिमांसापकर्षणमनन्तदोषता व्रणशुद्धिश्च भवति !" (सु. सू. अ. १८) ।

१२ विकेशिका-वर्ति—गले हुए मांसवाले, कोटर(भीतर पोल)वाले और भीतर पीबवाले व्रणोंमें तिलका कल्क-शहद और घी (या अन्य घृत-तैल-मरहम आदि) लगाई हुई कपड़े या सूतकी बत्ती रखी जाती है, उसको विकेशिका कहते हैं="तिलकल्क-मधु-घृताक्तवस्त्रस्य सूत्रस्य वा वर्तिः 'विकेशिका' इत्युच्यते" (सु. सू. अ. १८, सूत्र २१ पर डल्हण) ।

१३ कवलिका-व्रणमें औषधका कल्क-बत्ती आदि रखनेके पीछे उनके और बाँधनेके पट्टेके बीच वनस्पतियोंके पत्ते या कपड़ेकी गद्दी-रूई आदि रखे जाते हैं, उनको कवलिका कहते हैं="औषध-वस्त्रयोरन्तरे या दीयते औषध-संस्थापनार्थमौदुम्बर्यादित्वक् पत्राणि वा सा 'कवलिका' इत्युच्यते ।" (सु. सू. अ. १८, सूत्र २० पर डल्हण) ।

वक्तव्य—व्रणके ऊपर औषधप्रयोगके विषयमें यहाँ संक्षेपमें लिखा गया है । इस विषयमें जिनको विशेष जिज्ञासा हो वे सु. सू. अ. १८, सु. चि. अ. १, च. चि. अ. २५ तथा सु. सू. अ. ३५ देखें ।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने उत्तरार्धे प्रथमे परिभाषाखण्डे भेषजप्रयोगविधिविज्ञानीयाध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

समाप्तश्चायं परिभाषाखण्डः